उपाध्याय ग्रन्थ माला—१

विचार के प्रवाह

लेखक :—

डा० देवराज उपाध्याय

एम० ए०, पी-एच० डी०

मंगल प्रकाशन

गोविन्दराजियों का रास्ता,

जयपुर

प्रकाशक —

मंगल प्रकाशन,

गोविन्दराजियों का रास्ता,

जयपुर।

प्रथम संस्करण, जुलाई, सन १९५८ ई०

मूल्य —पाँच रुपया

मुद्रक—

नवल प्रिंटिंग प्रेस,

चूरुकों का रास्ता,

जयपुर।

समर्पण

सच्चे संत, पद्म-पत्र की तरह भवजल से निर्लिप्त स्वर्गीय
शंकरदयाल (१९२१-५७) को जो वयोवृद्ध नहीं, ज्ञानवृद्ध थे
और जिन्होंने सरस्वती की साधना में कैम्ब्रिज
विश्व विद्यालय में नश्वर काया अर्पित की
और बन्धु बान्धवों के हृदय पर वेदना
की लकीर खींचते चले गये।

—देवराज उपाध्याय

लेखक की ओर से

आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान के बाद मेरी दूसरी पुस्तक थी "कथा के तत्व"। अब यह तीसरी पुस्तक है "विचार के प्रवाह"। पुस्तक का नामकरण ठीक है या नहीं अर्थात् यह अपने आंतरिक स्वरूप का ठीक आभास दे रहो है या नहीं इस पर स्वयं मैं कुछ निश्चित रूप से नहीं कह सकता। मैं यह इसलिये कह रहा हू कि 'कथा के तत्व' को लेकर भी एक दो बन्धुओं ने उसके नामकरण के औचित्य की ओर मेरा ध्यान आकर्पित किया था। कहा था कि उसका नाम आधुनिक-हिन्दी-कथा साहित्य होना चाहिये था। एक ने यह भी कहा था कि नाम तो इस पुस्तक का है कथा के तत्व पर तथ्य से अधिक विस्तार की वात कही गई हैं। मैंने उनसे यही कहा कि कथा के तत्व से कथा के विस्तार का तत्व समझ लीजिये और ऐसा मान लीजिए कि भापा के लाघव तथा आकुंचन की प्रवृत्ति के कारण विस्तार का लोप हो गया है। सो इस पुस्तक के नामकरण के वारे में भी कहा जा सकता है कि इस में प्रवाह तो है नहीं, विचार भी कम ही है। तब "विचार के प्रवाह" क्यों ?

पर इतना भी ठीक है कि न तो इस पुस्तक में विचार का ही अभाव है और न प्रवाह का ही। चाहे मैथिलीशरण गुप्त की गार्हस्थ्य-भावना की वात की गई हो, चाहे संस्कृत नाटकों की, चाहे श्री लक्ष्मीनारायण जी मिश्र के नाटकों की, पर इतना अवश्य है कि बोझिलता से बचने का प्रयत्न किया गया है और यथासंभव ध्यान यही रखा गया है कि भापा में प्रवाह की रक्षा की जाय। नहीं तो मुझे खूब मालूम है कि भापा को शास्त्रीय गम्भीरता से भारी भरखम तथा आतंकोत्पादक वनाया जा सकता था। "मेरी दिल्ली यात्रा", "एक पत्र", तथा "असुविधा का सदुपयोग" इन लेखों में प्रवाह भी स्पष्ट रूप में देखने को मिल जायेगा। वास्तव में ये प्रवाहरूप ही हैं, अन्दर जो चीज वनी वह एक ही बार निकलकर सामने आ गई, रुक रुक कर नहीं। हां, मनोवैज्ञानिक उपन्यास पर जो लेख है उसमें ऐसा अवश्य लगेगा कि विचार रुक रुक कर, ठहर ठहर कर, सोच समझ कर, किश्त दर किश्त सामने आ रहे हों पर अन्य स्थानों पर प्रवाह की धारा ही नजर आयेगी। "आधुनिक काव्य"

वाले लेख मे विचारों की गुरु गम्भीरता के आ टपकने का अवसर था। क्योंकि विषय ही ऐसा था। पर वहा पर भी प्रारम्भ में जो छोटी सी बात बनी वह एक सरपट में ही सामने आ गई, जरा सी झलक दिखा कर हट गई।

वास्तव मे देखा जाय तो इस संग्रह के लेख एक झलक, एक झांकी, एक विचारोत्तेजना देने भर के लिए ही हैं। "शोलों के देवता" वाला लेख सुश्री सुमित्राकुमारी सिनहा के काव्यसंग्रह की सरसरी आलोचना है पर यह आलोचना एक नये ढंग से की गई है। 'नये मोड़' भी उदय शकर भट्ट के उपन्यास की आलोचना ही है पर प्रयत्न यही रहा है कि इसी बहाने कुछ सैद्धान्तिक चर्चा हो जाय।

मैं यह मानता हूँ कि यह पुस्तक ऐसी नहीं है जो हिन्दी साहित्य को नई या ठोस चीज दे रही हो। आजकल हिन्दी को कुछ नई या ठोस सामग्री देने की लालसा बहुत से लेखकों मे उभर आई है। मुझ मे इस तरह की योग्यता या पात्रता नहीं कि ऐसा मन्सूबा बाधूं। कम से कम इस तरह की अनुभूति मेरे अन्दर नहीं बनती। हिन्दी की सेवा करने तथा उसे समृद्ध करने वाले अन्य तेजपुंजों को देखता हूँ तो मेरी अकिंचनता ही सामने आती है। पर सच मानिये यही अकिंचनता मुझे प्रेरित भी करती है तथा अन्य स्थानों पर बिखरी सामग्री को एकत्र कर पाठकों के सामने रखने के लिये उत्साहित करती है।

'विचार के प्रवाह' मे संगृहीत लेखों के बारे मे अपनी ओर से क्या कहूँ ? "निज कवित्त केहि लागि न नीका। होय सरस अथवा अति फीका। हृदय में इनके लिये पक्षपात का होना स्वाभाविक ही है। पर पाठकों से विशेषत आलोचकों से मेरी प्रार्थना है कि वे इसे सतुलित दृष्टि से पढ़े। प्रशसा या निन्दा के अतिशयोक्तिपूर्ण उद्गारों से क्या लाभ ? ऐसी उक्तियों से न तो पाठक ही धोखे में आ सकता है, न लेखक ही। सभव है कि किसी समर्थ लेखक या कथाकार की रचना की ओर मेरा ध्यान नहीं गया हो। उदाहरण के लिये हिन्दी मे अनेक प्रतिभा-सम्पन्न नाटककार या कवि हैं पर इस पुस्तक मे प० लक्ष्मीनारायण मिश्र या मैथिलीशरणजी गुप्त के बारे में ही कुछ कहा गया है। अन्य किसी के बारे मे नहीं। इसके कितने ही कारण हो सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि लेखक को हिन्दी नाट्य साहित्य अथवा

काव्य के बारे में कुछ जानकारी नहीं। यह भी संभव है कि आप पुस्तक में आये हुए कुछ वाक्यों को उनकी पारिपार्श्विक स्थिति से तोड़ कर एकत्र करलें, और लेखक को अल्पज्ञता का ढिंढोरा पीटें। पर इस तरह के मूल्यांकनों के पीछे जो विचार-दारिद्रय या असंतुलन काम करता है वह किसी से भी छिपा नहीं रहेगा।

इस पुस्तक के बारे में मैं इतना ही निवेदन करूंगा कि आप इसे पढ़ कर कुछ खोयेंगे नहीं पायेंगे ही। और कुछ नहीं तो कहीं कहीं मेरे हृदय की सच्ची तस्वीर ही सही जो आपके हृदय में घर करेगी। आखों में उतर आये उसे तसवीर कहते हैं। कलेजे में जो चुभ जाये उसे ही तीर कहते हैं। मेरा विश्वास है आपकी आंखों में कुछ तस्वीरें जरुर उतरेंगी और कलेजे में कुछ तीर भी चुभेंगे।

रह गई प्रूफ संशोधन की भूलों की बात। ऐसा लगता है कि मैं ठीक से प्रूफ संशोधन कर ही नहीं सकता। लाख प्रयत्न करने पर भी न जाने कहां से भूलें निकल ही आती हैं। लोगों का कहना हैं कि पुस्तक में संशोधन पत्र लगा देने से कोई लाभ नहीं होता कारण कोई उसे पढने का कष्ट नहीं करता। पर संशोधन पत्र लगाना ही पड़ा। पाठकों से प्रार्थना है कि वे पुस्तक पढते समय संशोधन पत्र से अवश्य ही सहायता लें। संशोधन पत्र में भी वैसे ही स्थलों का निर्देश किया गया है जहां उनकी नितान्त आवश्यकता मालूम पडी। अन्यथा वैसे स्थलों को छोड दिया गया है जहां थोडी सतर्कता से काम चल जा सकता है। कभी कभी तो सोचता हूँ कि यह अच्छा ही हुआ। कारण कि पाठक को इससे आंख मूंद कर नहीं आंख खोलकर पढने की आदत पडेगी और वह अन्दर से विकसित होगा। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की चर्चा करते हुए मैंने अनेक स्थलों पर यह बात दुहराई है कि ये पाठक से जागरूकता की अपेक्षा करते हैं, पाठक जहां थोडा सा असावधान हुआ कि सारा मजा किरकिरा। तब मैं क्यों न सोचूं कि जिस अंश में मेरे लेख पाठकों से सतर्कता की मांग करते हैं उतने अंश में तो मनोवैज्ञानिक हैं ही। क्यों ? आप इसे स्वीकार नहीं करते !

हो सकता है कि कुछ लेखों में पाठक को मेरी फुरसत के क्षण मिल जांय। पर किसी को कहां फुरसत है ! दुनियां के चक्कर से थोड़ी मुक्ति

इनकी आलोचना में मौलिक तत्वों के विवेचन की प्रधानता रहती है। साथ ही इस "विचार के प्रवाह" में कुछ ऐसे लेख भी हैं जो वैयक्तिक निबंध की श्रेणी में आते हैं। जैसे 'दिल्ली यात्रा', 'असुविधा का सदुपयोग', 'एक पत्र' इत्यादि इनमें जिस आत्मीयता के साथ बातें की गई हैं, हृदय की तस्वीर जिस सचाई के साथ खींची गई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

भारतेंदु युग में श्री प्रतापनारायण मिश्र तथा श्री बालकृष्ण भट्ट इत्यादि ने वैयक्तिक निबंधों की परम्परा प्रारंभ की थी। पर बाद में यह परम्परा चली नहीं। लेखक बुजुर्ग बनते गये, पाठकों को कान पकड़ कर सिखाने वाले गुरु बनते गये और स्व० शुक्ल जी के साथ यह गुरु गंभीर ढंग अपने चरम शिखर पर पहुंच गया। आवश्यकता है कि निबंधों में वैयक्तिकता की परम्परा को पुनः जीवित किया जाय। उपाध्याय जी चाहें तो यह संभव है। वे भावक ही नहीं भावुक भी हैं, उनके केवल मस्तिष्क ही नहीं, हृदय भी है। चूँकि वे दूसरोंकी या अपनी बातें सुन नहीं सकते, अतः 'स्वगत' या वार्तालाप खूब कर सकते हैं। या सच पूछिये तो यही वास्तविक साहित्य है। पाण्डित्य के क्षण तो बहुत मिल सकते हैं, पर फुरसत के क्षण दुर्लभ हैं। उसी फुरसत के कुछ अपने क्षण जिसमें व्यक्ति अपने शुद्ध रूप में आ जाता है, इस पुस्तक के कुछ लेखों में मिलते हैं।

आधुनिक काव्य तथा साहित्य इस पुस्तक में बहुत कुछ सारगर्भित और प्रेरक बातें कही गई हैं। पुस्तकों की आलोचना में विचारों का संतुलन सराहनीय है। गुणों को प्रकट करने और त्रुटियों की ओर हल्के ढंग से संकेत कर दिया गया है। इस दृष्टि से उपाध्याय जी आदर्श आलोचक हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के बारे में जो बातें कही गई हैं वे यदि अन्यत्र दुर्लभ हों तो ठीक ठीक ही है, क्योंकि उपाध्याय जी का यह अपना क्षेत्र है। इस पुस्तक का विशेष महत्व उन दो तीन लेखों में है जिनमें वे एक मौलिक साहित्य स्रष्टा के रूप में प्रकट हुए हैं। मैंने इस 'विचार के प्रवाह' को बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा है। कहीं-कहीं तो उपाध्याय जी की जिन्दादिली और सजीव परिहास से बहुत ही अधिक प्रभावित हुआ हूँ। उदाहरण के लिये 'मेरी दिल्ली यात्रा' शीर्षक लेख में उन्होंने पाकेटमार की कला की प्रशंसा को है कैसी उपमाएँ दी हैं। उस प्रसंग में आपने राम सीता तथा संस्कृत के कवियों को भी ला बिठाया है। कहाँ राम, सीता, कहाँ मृच्छकटिक का शार्विलक और कहाँ यह दिल्ली का

पाकेटमार। पर डा० उपाध्याय की प्रतिभा ने इनके संबंध सूत्रों को खोज ही लिया है। वस्तुओं में संबंध सूत्रों को ढूँढ निकालना प्रतिभा का ही कार्य है, विशेषतः ऐसे स्थानों में जहां साधारणतः संबंधों का आभास भी नहीं होता हो।

आशा है, हिन्दी-जगत् डा० उपाध्याय के 'विचार के प्रवाह' का स्वागत करेगा।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
संचालक
क० मु० हिन्दी विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।

[यह भूमिका विलम्ब से प्राप्त हुई, अतः लेखक यथोचित स्थान पर कृतज्ञता ज्ञापन नहीं कर सका जिसके लिए वह क्षमा प्रार्थी है]

विषय-सूची

गुप्तजी के काव्य में गार्हस्थ्य-भावना

गुप्तजी के व्यक्तित्व, उनकी प्रतिभा एवं उनकी आत्मा की सरलता की छाप हिन्दी काव्य के इन पचास वर्षों पर स्पष्ट रूप से अंकित है। गत अर्द्ध शताब्दी की हिन्दी काव्य-धारा ने जो भी रूप धारण किया है, जो भी मोड़ लिया है, अथवा लोगों के हृदय में स्फूर्ति-संचार के लिये जितने भी साधनों का प्रयोग किया है उन सब पर गुप्तजी का प्रभाव किसी न किसी रूप में पड़ा ही है। "भारत-भारती" के कण्ठ स्वर से जो काव्य लहरी निस्सृत हुई उसने कभी भी विश्राम नहीं लिया। वह आज भी उतनी ही तल्लीनता के साथ अपनी साधना में लगी है और अपनी दिव्य-ज्योति से मानवमन के अवस्थित अंधकार को दूर कर रही है। कवि होते हैं और हुए हैं जिनकी कृतियों ने साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति का दृश्य उपस्थित कर दिया है, जिन्होंने काव्य-धारा को मोड़ कर एक दूसरे ही मार्ग पर प्रधावित कर दिया है, आवृत मिट्टी को भी अपनी प्रतिभा की प्रखर किरणों से सुवर्ण के रूप में देखने के लिये बाधित किया है। पर कुछ दिनों तक इस अपूर्व दीप्ति से जलते-बलते रहने के बाद उनकी ज्योति मंद पड़ गई है। काव्य-गगन में अपने पूर्ण तेज के साथ उद्दीप्त हो बुझ जाने या मन्द-ज्योति हो जाने वाले कवियों में वर्ड्सवर्थ का नाम लिया जाता है। मिलटन के विषय में भी यही कहा जाता है कि उसकी काव्यात्मक प्रेरणा बीच-बीच में सूख जाती थी और अनेक वर्षों की कुंभकरणी नींद के बाद जागृत होती थी। कालरिज के सम्बन्ध में भी यही बात कही जाती है कि वह अपनी स्वप्न प्रसूत "कुबलाखां" नामक कविता की रचना के पश्चात् किसी भी उच्च कोटि की कविता की सृष्टि नहीं कर सका। पर मैथिली शरण गुप्त उन इने गिने कवियों में से हैं जिनकी काव्य-प्रतिभा के तेज-पुंज

ने हजारों "कांडल पावर" की शक्ति से जल कर अमावस्या के निशीथ को जेठ के प्रखर मध्याह्न में भले ही परिणत न कर दिया हो पर जिसकी निष्कम्प लौ उसको अपनी आन्तरिक शक्ति के बल पर ही आंधी और तूफानों को ललकारती अपनी ज्योति से प्रकाशित करती रही है। उसने सुन्दरता को भी सुन्दर भले ही नहीं किया हो पर वह दुनिगूह में दीपशिखा की तरह जलती जरूर रही है। इसका क्या कारण है ? उस शक्ति का मूल स्रोत क्या है जिससे सचालित हो कर उनकी काव्य-निर्झरिणी इतनी विघ्नबाधाओं को सहती हुई निरन्तर गति से अग्रसर होती गई है ?

इस शक्ति के रहस्य का पता पाने के लिये हमें गुप्तजी के विशाल काव्य साहित्य के प्राण रूप में प्रतिष्ठित कुछ मूल भावनाओं को पहचानने का प्रयत्न करना होगा। जिस तरह मानव शरीर को सचालित करने वाली प्राणशक्ति अति सूक्ष्म होती है, इतनी सूक्ष्म कि देखी भी न जा सके पर उसी की अभिव्यक्ति मनुष्य की विविध क्रिया-कलापों में होती रहती है। ठीक उसी तरह कवि के व्यक्तित्व में कुछ मौलिक भावनायें उमड़ती रहती हैं, बाहर आने के लिये व्याकुल रहती हैं, कवि को अपनी अभिव्यक्ति के लिये बेताब किये रहती हैं, अनेक रूप में प्रकटित होती रहती है। तुलसी के पूरे साहित्य में एक ही भाव रह रह कर अपने स्वरूप को प्रकट कर रहा है और वह है भक्ति। यही भक्ति यथावसर अनेक पात्रों और चरित्रों के माध्यम से अपना विजयोच्चार कर रही है। यह बात दूसरी है कि उस भक्ति के भी कितने ही रूप हो सकते हैं। सूर मधुरभाव के उपासक हों और तुलसी दास्यभाव के और इसी कारण दोनों के साहित्य में महान अन्तर आ गया हो। पर अंतिम विश्लेषण में बात यही आ जाती है कि किसी कवि के काव्य साहित्य ने जो रूप धारण किया है, उसकी प्रगति में जो वैचित्र्य है, जीवन क्षेत्र के जिस व्यापकत्व या गहराई का उसने स्पर्श किया है वह सब उसकी अन्तस्थ कुछ मूल भावनाओं का ही परिप्लावन है, बढाव है।

गुप्तजी के साहित्य के मूल में उनके आस्थावान हिन्दू हृदय का दर्शन होता है। चाहे वे 'भारत भारती' में भारत के गौरव गान में अपनी प्रतिभा को प्रेरित करते हों, चाहे वे किसी पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान को ही अपने काव्य का उपजीव्य बनाते हों। सब में उनके वैष्णव हृदय की सादगी, सात्विकता आस्तिकता एव मर्यादा-रक्षा की भावना स्पष्टतया झलकती दिखलाई

पडती है। भारतीय ऐतिह्य की परम्परा बहुत ही प्राचीन है, घटना-बहुल है, और इसमें ऐसी घटनाओं का अभाव नहीं जिनके द्वारा सब कुछ विध्वस कर क्रान्ति के मार्ग पर चल पडने के सिद्धान्त का समर्थन होता है। यहां के पुराणों में ऐसे अनेक आख्यान वर्तमान है जिनके आधार पर क्रान्ति-कारी साहित्य की रचना बड़ी सुगमता से हो सकती है। गुप्तजी जानते हैं कि राम का चरित्र स्वयं ही काव्य है, उसे लेकर कवि बन जाना सहज संभाव्य है। उनके लिये यह जानना कुछ कठिन न था कि भारतीय परम्परा की राह पर ऐसी चिनगारियां भी बिखरी पडी हैं जिनको फूंक कर क्रान्ति की आग सहज ही धधकाई जा सकती है। पर उनकी दृष्टि उनकी ओर नहीं गई है। प्रह्लाद का चरित्र बडा ही क्रान्तिकारी था, ध्रुव में विद्रोह की मात्रा कम न थी, रावण और वेन जैसे राजाओं का चरित्र कम विद्रोही न था। पर गुप्तजी की दृष्टि इन घटनाओंकी ओर नहीं ही गई। बहुत साहस करने पर नहुष तक उनकी दृष्टि अवश्य पडी पर ऋषियों के श्राप के सामने जो उसका पतन हुआ और इन्द्राणी के सतीत्व की मर्यादा की रक्षा जिस कुशलता से हो सकी है उससे तो कवि हृदय के गतानुगतित्व की भावना ही स्पष्ट होती है। मैं पूछता हूँ कि क्या भारतीय इतिहास में कोई दूसरी कथा अपने काव्य के आधार के रूप में ग्रहण नहीं की जा सकती थी? और यदि इसी कथा की ओर कवि की दृष्टि गई ही तो कवि की कल्पना इसमें कुछ और पिकरिक एसिड डाल कर इससे कुछ अधिक तीक्ष्णता नहीं प्रदान कर सकती थी, इसकी धार पर कुछ अधिक सान नहीं चढा सकती थी? क्या यह पुस्तक माइकेल मधुसूदन दत्त का "मेघनाथ वध" नहीं बन सकती थी? गुप्तजी में कल्पना शक्ति की न्यूनता के सर पर भी इसकी जिम्मेवारी डालकर हमें सन्तोष नहीं हो सकता। कवि में कल्पना की कमी है, प्रख्यात सामग्री में अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये तोड मरोड करने की शक्ति का अभाव है यह कहने के लिये बहुत साहस की आवश्यकता पडेगी। 'साकेत' में कवि के कल्पना-कौशल ने जो चमत्कार दिखलाया है वह कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् में प्रदर्शित कल्पना वैभव से किसी हालत में कम है? तब वही कल्पना यहां आकर खुल कर पांख खोल कर गगन में 'हहास' कर उडती क्यों नहीं दिखलाई पडती!

गुप्तजी के काव्य साहित्य के अध्ययन से हमारे मानस में एक रूपक की साकार कल्पना सामने खडी हो जाती है। एक बहुत ही अच्छी, दृढ कलपुर्जों से सयुंक्त कार है, उसमें किसी तरह की त्रुटि नहीं है, सडक भी साफ सुथरी

है, चाहे तो वह फुल स्पीड पर चल कर हवा से बातें कर सकती है पर कहीं न कहीं कुछ ऐसी बात है जो उसे पूरी रफ्तार के साथ चलने नहीं देती। हो सकता है ड्राइवर में ही कोई बात है। उसके अन्तस्तल के निर्माण में ऐसी वस्तुओं का योग हो जिसके कारण यह खतरा उठाना उसके लिये सम्भव न हो। दूसरी ओर हिन्दी में ऐसे कवियों का भी अभाव नहीं जिनकी कार है तो छोटी ही, उसके कल पुर्जे भी उतने ठीक नहीं पर तो उड़ कर आसमान पर छा जाना चाहती है। उसका ड्राइवर ही कुछ ऐसा dare devil है जिसे खतरे के आलिंगन करने में ही आनन्द आता है। इस श्रेणी के कवियों में निराला जी का नाम लिया जा सकता है। इस तरह के कवि विद्रोही होते हैं, उनमें जोश होता है, उबाल होता है, वे अपने अवसर पर आश्चर्य चकित कर देने वाले करामात भी दिखला सकते हैं, पर उनके काव्य में स्थिरता नहीं होती, स्थायित्व नहीं होता और अस्खलद्गति से अग्रसर होते रहने की क्षमता नहीं होती। उनका काव्य मण्डूकप्लुति का दृश्य तो खड़ा कर सकता है पर शांत सरोवर में अपने पूर्ण गौरव के साथ तैरने वाले हंस का चित्र नहीं उपस्थित कर सकता। इन दोनों का अपना अपना महत्व है। कला की दृष्टि से मेंढक भी उतना ही सुन्दर हो सकता है जितना राज हंस। पर इतना अवश्य है कि हृदय के अन्तर्देश का भूगोल जहां पर इन दो जीवों की सृष्टि हुई है पृथक् होगा, जलवायु पृथक् होगी। मेरे कहने का अर्थ यह कि जिस हृदय के अन्दर 'साकेत' और 'यशोधरा' की सृष्टि हो सकी है वह केवल विधि और निषेधों में विश्वास करने वाला तथा मर्यादा-रक्षण-तत्पर रहने वाला हृदय नहीं कर्त्तव्य बुद्धि द्वारा निर्णीत नियमों एवं सदाचारों के नियंत्रण को स्वीकार कर चलने वाला भी है। भक्ति युग के कुछ शब्दों को उधार लेकर कहें तो कह सकते कि गुप्तजी का हृदय वैधी भक्ति के आस पास बना रहने वाला हृदय है, रागानुगा भक्ति की उत्कलिका लोल ग्राह्य भावना से वह बहुत कुछ असम्पर्कित है। यही कारण है कि सामाजिक जीवन और मर्यादा की उसमें कहीं भी अवहेलना नहीं, कहीं भी किसी सामाजिक बंधन का निर्दय या कटु उपहास नहीं किया गया है। यह नहीं कि उसमें वर्तमान सामाजिक बंधनों के प्रति वे बंधन जो समाज के गले में पड़ी पत्थर की शिला की तरह उसे नीचे डुबो रहे हैं,—असंतोष के भाव नहीं उठते। उठते तो हैं। पर वह जानता है कि विध्वंसात्मक प्रणाली किसी समस्या को उतनी सुलझाती नहीं जितनी दूसरी समस्याओं को खड़ा करती है। अतः गुप्तजी के काव्य में उद्बोधन तो मिलेगा मधुर उत्तेजना तो मिलेगी पर कहीं भी नाश और विनाश की प्रलयकारी

ज्वाला को धधकाने वाली आग नहीं मिलेगी। वे कभी भी नहीं कहेंगे

जिस खेत से दहकां को मुअस्सर न हो रोटी

उस खेत के हर गोशये गंदुम को जला दो।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है हिन्दी साहित्य में दो भिन्न प्रकृति के आर्यों ने ग्रन्थ लिखे हैं। पूर्वी आर्य अधिक भाव-प्रवण, आध्यात्मिकतावादी और रूढ़ियुक्त थे और पश्चिमी या मध्य देशीय अपेक्षाकृत अधिक रूढ़िवद्ध, परम्परा के पक्षपाती, शास्त्र प्रवण और स्वर्गवादी थे। वास्तव में देखा जाय तो हिन्दी साहित्य की ही यह विशेषता नहीं, किसी भी साहित्य में यह बात पाई जा सकती है क्योंकि अन्ततोगत्वा यह मानव स्वभाव की विशेपता है। कुछ व्यक्ति निसर्गतः विद्रोही होते हैं, कुछ रूढ़िवादी। इसी को अंग्रेजी के आलोचकों ने प्रयोगवादी (Experimentalist) तथा परम्परा पालक (Tradionalist) कहा है। इसका भूगोल से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। गुप्तजी के काव्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि वे पश्चिमीय या मध्य देशीय आर्यों अथवा परम्परावादी (Tradionalist) कवियों की श्रेणी में ही आते हैं। वे उस आर्यधर्म, सनातन धर्म के प्रतिनिधि हैं जो परिस्थितियों के अनुसार अपने स्वरूप का विकास करता गया है पर जिसने अपने मूलाधार से टूट कर अलग जा पड़ने की क्रान्ति कभी नहीं की है।

अतः इसी भावाधारा के प्रतिनिधि होने के कारण गुप्तजी के काव्य में ऐसी ही भावनाओं का समावेश अधिक हो सकता है या उन्ही भावनाओं के चित्रण में कवि की चित्रवृत्ति तल्लीन सी दीख पडती है जिनके द्वारा जीवन में स्थिरता आये, शान्ति की स्थापना हो, सन्तुलन की रक्षा हो। आर्यों ने गृहस्थाश्रम की महत्ता तथा गौरव समवेत कण्ठ से स्वीकृत किया है। इसे सब आश्रमों का मूल एवं आधार-स्तंभ कहा गया है। आर्य-संस्कृति का श्रेष्ठतम प्रतिनिधित्व जनक के व्यक्तित्व में वर्त्तमान है जिन्होंने परिवार के बीच में रहते हुए भी सन्यास का आदर्श उपस्थित किया। आर्यों में जीवन की इकाई परिवार है और उस की धुरी है नारी जिसके दो रूप हैं, माता और पत्नी। पत्नी के रूप में वह जीवन में गति प्रदान करती है, स्फूर्ति का संचार करती है, सारी दुनिया पर छा जाने की ख़्वाहिश पैदा करती है। माता के रूप में जीवन में स्थिरता प्रदान करती है, ज़ीवन के उत्ताप को आलोक में परिणत करती है

उद्दाम प्रवृत्तियों को शान्ति पूर्वक उचित मार्ग की ओर प्रेरित करती हैं। नारी के इन दोनों रूपों के योग से गार्हस्थ्य जीवन के अनेक सुन्दर चित्र गुप्तजी की लेखनी से निर्मित हो सके हैं जिनके कुछ उदाहरण साकेत से लिये जा सकते हैं।

डा० नागेन्द्र ने "साकेत-एक अध्ययन" में गुप्तजी द्वारा चित्रित गार्हस्थ्य जीवन की विविध झांकियों का दिग्दर्शन कराया है पर साकेत एक जीवन काव्य है, वह लीजिये महाकाव्य। इसमें कवि पर एक बाध्यता होती है कि वह जीवन का सांगोपांग चित्रण करे और कोई इस तथ्य से कैसे आंख मूंद ले सकता है कि हिन्दू परिवार में लालित पालित व्यक्ति का जीवन बहुत अंश में परिवार की परिधि में ही आबद्ध रहता है अथवा प्रभावित होता रहता है। साकेत में वर्णित व्यक्तियों-आर्यधर्म-प्राण मर्यादा स्थापक व्यक्तियों की तो बात ही क्या है। कहा जा सकता है कि साकेत की वाटिका में जो गार्हस्थ्य के अनेक सुन्दर चित्र मिल रहे हैं वे तो अनिवार्य थे। कवि बाध्य था वैसे चित्रों को उपस्थित करने के लिये। पर जब हम गुप्तजी द्वारा रचित अन्य छोटी छोटी पुस्तिकाओं में भी इस तरह के चित्रण पाते हैं तो उनके हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के प्रति कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता।

ऐसी ही एक छोटी पुस्तिका है 'बक संहार'। लाक्षागृह के अग्नि दाह से बच निकलने के बाद पाण्डव एक विप्र-परिवार के साथ अतिथि के रूप में निवास कर रहे थे। बक नामक राक्षस के सामूहिक नरसंहार से बचने के लिये ग्रामनिवासियों ने इस शर्त पर संधि कर ली थी कि हर परिवार में से एक व्यक्ति बारी-बारी से राक्षस के क्षुधानिवारणार्थ भेजा जायेगा। एक दिन इस परिवार की भी बारी आई। इस अवसर पर गुप्तजी की लेखनी ने परिवार का जो चित्र खींचा है वह अपनी महत्ता, स्वाभाविकता और सात्विकता में अपूर्व हो गया है। परिवार के सब व्यक्तियों में होड़ लगी है कि उन्हें ही राक्षस के पास जाने का अवसर मिले। पिता यदि उत्सुक है, तो माता यह कैसे सहन कर सकती है, पुत्री भी पीछे रहने वाली नहीं है। ब्राह्मण सब को समझाते हुए कहता है

तुम लोग शोक करो न यों,
मत हो अधीर डरो न यों,
जब प्राकृतिक है तब मरण कैसा विकट।

तब ब्राह्मणी बोली......

जीती रहूं मैं और तुम जाकर मरो,
इससे अधिक परिताप की क्या बात होगी पाप की ?

तब शील सद्गुण-संयुता द्विज-सुता कहने लगी...

है दान की ही वस्तु कन्या लोक में,
तो त्याग तुम मेरा करो ।

इस विपद की घड़ियों में भी अपनी बहन के कंधे पर बैठा हुआ कुलदीप सा बालक अपनी तोतली वाणी में कहता है......

मालूं अचुल को में अबी, वह है कहां ।

तो कौन ऐसा व्यक्ति है जो ऐसे सुखद परिवारिक वातावरण तथा गार्हस्थ्य जीवन की छांह के लिये मचल न उठे । इस पुस्तक की कुछ प्रारंभिक पंक्तियों को देखिये.

यह विप्र का परिवार था, शुचिलिप्त घर का द्वार था
पूजाप्रसूनाकीर्ण थी दृढ देहली ।
आगत अतिथियों के लिये शीतल पवन सुरभित किये
मानो प्रथम ही थी पड़ी पुष्पांजली ।
द्विज-वर्य विघ्नों से रहित, वेदी निकट, शिशुसुत सहित
सानन्द सांध्योपासना था कर रहा ।
परितृप्त गृह सुख भोग से, मंत्रस्वरों के योग से
मानों भुवन की भावना था हर रहा ॥

इन पंक्तियों में वर्णित गृहस्थ जीवन में कुछ ऐसा सात्विक आकर्षण है कि आज के सभ्य, विद्युन्मालिका तथा वातानुकूलित कक्ष में विश्राम करने, डी० डी० टी० की तीक्ष्ण गंध तथा होटलों में वेटरों के सहारे जीवन यापन करने वाले सभ्य नागरिक का मन भी इसकी शीतल छांह के लिये लालायित हो उठेगा ।

पत्नी गृहस्थ जीवन की नींव है । पुरुष को बाहरी संघर्ष में इतना निरत रहना पड़ता है, उसे वाह्य प्रभावों के लिये इतना खुला रखना पडता है कि उसका व्यक्तित्व अति जटिल बन जाता हैं, उसका व्यवहार कुछ विक्षिप्त तथा असाधारण सा मालुम पड़ने लगता है । ऐसी अवस्था में नारी शान्ति पूर्ण

विवेक से काम न ले और परिस्थिति पर सहृदयता पूर्वक विचार न करे तो यह जीवन नरक बन जा सकता है। ऐसी ही आपत्काल मे नारी के नारीत्व की परीक्षा होती है। सब के लिये इस परीक्षा मे सफल होना सहज होता भी नहीं। सत्यभामा के हृदय मे भी कृष्ण के प्रति, उनके व्यवहारों के प्रति कुछ भ्रममूलक विचार उत्पन्न हो रहे थे। देश में अभी ही क्रान्ति हुई थी और नव स्थापित शासन सूत्र को सफलता पूर्वक सचालित कर राष्ट्र को व्यवस्थित रूप से उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिये-कृष्ण का एक एक क्षण, तथा उनकी शक्ति का एक एक कण लग जाता था। कृष्ण के पास कुछ भी नहीं रह जाता था जिसे प्राप्त कर-सत्यभामा का पत्नीत्व अपनी सार्थकता का अनुभव कर सके। अत, वह अपने को उपेक्षिता समझ रही थी। ऐसी ही मनोदशा मे कृष्ण सत्यभामा के साथ पाण्डवों से मिलने के लिये आये जब वे वनवास का काल व्यतीत कर रहे थे। सत्यभामा देखती है कि द्रौपदी की गृहस्थी, सारे सकटों के बीच मे भी-जगल मे मगल मनाती हुई चल रही है मानो जीवन की सारी कटुतायें अपने बाहुल्य मे ही माधुर्यमयी हो उठी हों। हो न हो द्रौपदी कोई जादू जानती है। वह सच्चे हृदय से पूछ उठती है

> अहो! एक को ही जब माना मैंने रुष्ट किया है
> पाच पाच देवों को तुमने कैसे तुष्ट किया है!

इसके उत्तर मे द्रौपदी जो कुछ कहती है वह भारतीय सस्कृति, गृहस्थ जीवन तथा आर्य ललनाओं के आदर्श का शृगार है

> मेरी तुच्छ [illegible]
> इसके लि[illegible]
> बाहर चू[illegible]
> नारी का मुख वहा निरख वह फिर-नवता पाता है।
> यदि ऐसा न हुआ तो समझो दोनों बडे अभागी,
> दोनों की ही सद्गृहस्थता अब भागी तब भागी॥

आगे चल कर वह कहती है

> फिर भी उचित मत्र मैं दूंगी, क्यों यह क्षोभ तुम्हें है!
> कारण, अपने रूप गुणों के फल का लोभ तुम्हें है।
> नारी 'लेने' नहीं लोक मे, 'देने' को आती है

अश्रु शेष रख कर वह उनसे प्रभु-पद धो पाती है
पर देने में विनय न होकर जहां गर्व होता है
ताप त्याग का पर्व हमारा वही खर्व होता है ।।

इस काव्य-चित्र को पढ कर बरबस एक चित्र की याद आ जाती है। गांधीजी थके मांदे कुछ दूर चल कर आश्रम में आये हैं और बा उनके चरणों को पखार रही हैं। चरणों को पखार रही हैं क्या आश्रम में भी गार्हस्थ्य-भाव जाग पड़ा है, बा के हाथों की अंगुलियां और गांधीजी के चरण "अन्योन्य पावनममभूदुभयं समेत्य।

रामचन्द्र जब रावण को मार कर तथा तापस वेश में वनवास की चौदह वर्षों की अवधि को समाप्त कर लौटे तो भरत ने सीता के चरणों पर अपना सर रख कर उनका स्वागत किया। इस दृश्य को कालिदास ने जिन शब्दों में वर्णित किया है उसकी महनीयता तथा दिव्यता भारतीय क्या विश्व साहित्य में ला-मिसाल है।

लंकेश्वर–प्रणति–भंगदृढव्रतं तद्
वन्धं युगं चरणयोजनकात्मजायाः।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलञ्च शिरोऽस्य साधो
रन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ।।

अर्थात् लंकेश की प्रणय-याचना को ठुकराने वाले सीता के दोनों वंदनीय चरण तथा बड़े भाई के आज्ञानुवर्ती भरत का जटिल सर-ये दोनों मिल कर एक दूसरे को पवित्र कर रहे थे। कहने का अर्थ यह कि कालिदास द्वारा वर्णित भरत और सीता का चित्र, चित्रकार द्वारा चित्रित गांधी और बा का चित्र और गुप्तजी का द्रौपदी और सत्यभामा का चित्र, ये तीनों एक ही जाति के चित्र हैं। सबों में गार्हस्थ्य जीवन की महिमा समूर्त्त हो उठी है। यदि कविता बोलता चित्र है और चित्र मौन कविता है तो कालिदास का श्लोक, चित्रकार का चित्र तथा गुप्तजी की उद्धृत पंक्तियां अपने नाम को पूर्ण-रूपेण सार्थक कर रही हैं। बात यह है कि भारत जैसा देश जिसकी परिस्थितियों में अनेक परस्परविरोधिनी विविधतायें और विषमतायें आकर सिमटी हुई हैं वहां समन्वयवादिता ही मान्य हो सकती है। भारतीय संस्कृति ने सदा गृहस्थ

भाव का आदर किया है। वास्तव में यही उसकी निर्बलता है और सबलता भी। विद्रोहियों को सब यही खटकी है और उन्होंने इस पर सीधा प्रहार किया है। पर गम्भीर विचारकों ने सदा ही उसके महत्व को स्वीकार किया है और इसी को लेकर परिस्थितियों के अनुरोध पर कुछ परिशोधन तथा परिमार्जन करते हुए अग्रसर होना ही उन्हें रुचिकर लगा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि गुप्तजी इसी दूसरी श्रेणी के व्यक्तियों में आते हैं।

ऊपर एक दो उदाहरण ही दिये गये हैं। "साकेत' तो गृहस्थ जीवन के भावपूर्ण पुष्पों की मनोहर वाटिका है जिसमें गृहस्थ जीवन के विविध रूपों के शान्त कोमल तथा तेजोदीप्त अनेक चित्र साकार हो उठे हैं। डा० नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है कि यह युग राष्ट्रीयता का होने के कारण लोग उनकी राष्ट्रीयता को ले उड़े किन्तु उनकी प्रधान विशेषता गृहस्थ जीवन के सुख दुख की व्यञ्जना ही है।

गृहस्थ जीवन के दो पहलू होते हैं गम्भीर और सरस। एक में कर्त्तव्यों की, उत्तरदायित्वों की तथा अधिकारों की कठोरता एवं जटिलता मनुष्य को जकड़े तथा दबाये रहती है। विधि निषेधों के बन्धन में आबद्ध होकर उसे सब को साथ लिये जीवन यात्रा में अग्रसर होना पड़ता है। उसे बहुत सतर्कता से पाँव फूँक फूँक कर रखना पड़ता है ताकि किसी तरह वह मार्गच्युत न हो जाय। अर्थात् यह पहलू शिलागर्भी है जिसके भार के नीचे मनुष्य के व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर नहीं मिलता। पर गृहस्थ जीवन का दूसरा रूप भी होता है जिसमें स्वच्छन्दता रहती है, जो केवल पत्नी को लेकर ही अपने स्वरूप का निर्माण करता है। इसमें केवल पत्नी रहती है, माता पिता भाई बन्धु, परिवार इत्यादि की चिन्ताओं से यह बहुत कुछ मुक्त होत है। अत इसमें रस होता है, मनुष्य के व्यक्तित्व को विकसित होने का अवसर रहता है, उसमें रसाद्रता होती है और उस रस से सिंचित होकर जीवन के विकास में सहायता मिलती है। इसमें आनन्द है, उल्लास है, महोत्सव है, मनमृग को स्वच्छन्दता पूर्वक चौकड़ी भरने का अवसर रहता है, उसके पैर में किसी तरह का बंधन नहीं रहता है। यही दाम्पत्य जीवन है और शायद अधिक महत्वपूर्ण कारण, गृहस्थ भार से त्रस्त और ऊबा मानव इसकी ई शीतल छाह में विश्राम करता है और पुन स्फूर्त होकर कर्त्तव्य मार्ग की ओ चल पड़ता है। गृहस्थ जीवन के इस पहलू को, भारतीय साहित्य में, सदा

अवहेलना होती आ रही है। अवहेलना का अर्थ यह नहीं कि इसकी चर्चा ही नहीं हुई है। इतना ही कि गार्हस्थ्य जीवन का कर्त्तव्य कठोर एवं मर्यादाबद्ध रूप का आतंक इस तरह छाया हुआ है कि विनोद-मय तथा शृंगार मय दोनों शब्द भारतीय साहित्य के लिये वदतो-व्याघात के उदाहरण होंगे।

पर गुप्तजी का ध्यान गृहस्थ जीवन के इस पहलू की ओर भी गया है। "साकेत" में प्रथम उर्मिला और लक्ष्मण को जब हम देखते हैं तो वे उस अवस्था में हैं जिसे आज के शब्दों में मधुयामिनी (Honey moon) की अवस्था कह सकते हैं। भारतीय साहित्य में दाम्पत्य जीवन की इस अवस्था की ओर कवियों का ध्यान कम गया है। नैषध में नल दमयन्ती की मधुयामिनी वाली अवस्था का वर्णन अवश्य है पर कहीं कहीं स्थूल संभोगवाद के नग्न चित्रण से चित्त विक्षुब्ध हो उठता है। पर "साकेत" में प्रधानता विनोद की है। बीच बीच मे संभोग शृंगार के पुट से आर्द्रता और स्निग्धता का अधिक संचार अवश्य हो गया है।

विविध विध फिर भी विनोदामृत बहा,
हार जाते पति कभी, पत्नी कभी,
किन्तु वे होते हर्षित तभी
प्रेमियों का प्रेम गीतातीत है
हार में जिसमें परस्पर जीत है।

यह गुप्तजी की ही लेखनी का प्रताप है कि राम के मुख से भी निकले विना न रह सका "मैं वन मे भी रहा गृही और" सीता ने कह ही तो दिया

सीता रानी को यहां लाभ ही लाया।
मेरी कुटिया में राज भवन मन माया।
कुछ करने में अब हाथ लगा है मेरा।
वन में ही तो गार्हस्थ्य जगा है मेरा॥

"साकेत" के अष्टम सर्ग में जहां सीता नई छवि धारे अर्थात् अंचल-पट कटि में खोस कछोटा मारे लताओं के आलवाल को सिंचित करती हुई गुनगुना रही हैं वहा गुप्तजी की लेखनी ने एक, अमर, अलौकिक और दिव्य गार्हस्थ्य

भाव का चित्रण किया है। हमें यहां याद रखना चाहिये कि यह वही सीता है, जो तुलसी के यहां चित्रलिखित कपि को भी देख कर त्रास से प्रकम्पित हो उठती थी और राम के लिये भार स्वरूप तो नहीं पर चिन्ता का कारण तो थी ही। तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम अवश्य थे और धर्म की रक्षा के लिये अवतार उनका अवश्य हुआ था, पर सब धर्मों की मूल गार्हस्थ्य भाव भूमि को दिव्य भावों से सिंचित कर इसे उर्वर बनाने की ओर उनका ध्यान कम गया। हो सकता है, तुलसी के समय में संयुक्त पारिवारिक जीवन की श्रेष्ठता के भाव लोक-हृदय में इस दृढ़ता के साथ स्थापित हों कि लोगों में इस तरह की कल्पना का भी अवसर न हो कि एक ऐसा युग भी आ सकता है जब इसकी नींव पर कुठाराघात होने लगे। और यही कारण है कि तुलसी के राम को भारतीय जीवन के इस पारिवारिक रूप को अपना अधिक अवलम्ब देने की अधिक आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई हो। परन्तु 'साकेत' के काल में तो इस व्यवस्था पर हर तरह के प्रहार प्रारम्भ हो गये थे और सब मनीषियों को यह चिन्ता होने लगी थी कि भारतीय जीवन की इस विशेषता के नाश के साथ भारत ही नष्ट न हो जाय। अब क्या आश्चर्य है कि हमारे राष्ट्र कवि की अन्त प्रज्ञा ने ताड़ लिया हो कि संयुक्त परिवार समाज संगठन की नींव है, यह हमें विरासत में मिला है, इसके बिना राष्ट्र छिन्न भिन्न हो जायेगा, इसकी रक्षा आवश्यक है, और वह अपने कंठ की मृदुला को अस्त्र बना कर विरोधी शक्तियों को आर्द्र करने की ओर चल पड़ा हो।

आधुनिक युग में पारिवारिक जीवन के एक विशिष्ट संकुचित रूप की ओर कुछ लोगों का ध्यान आकर्षित होने लगा है। यह परिवार बहुत छोटा होता है, यह पति और पत्नी केवल दो प्राणियों को लेकर बना होता है। कोई तीसरा व्यक्ति इनकी सुख शान्ति में बाधक नहीं होता। रह गई संतान की बात। वह अवश्यक तो है, पर उसपर बहुत कुछ नियंत्रण किया जा सकता है, अपनी सुविधा के अनुसार। इसमें दम्पति कर्त्तव्य भाराक्रान्त गृहस्थ न होकर प्रेमी प्रेमिका ही बना रहता है, चिन्ता से मुक्त, पहले का परिवार भरा पूरा होता था, पुत्र-पौत्र, बहन-भाई चाचा चाची, बंधुओं बांधवों से युक्त वह विश्व का प्रतिबिम्ब होता था। यहां पर स्थिर होकर मनुष्य विश्व बंधुत्व का पाठ सीखता है। पति-पत्नी का पारस्परिक, चाहे तो स्वार्थमय कह लीजिये, प्रेम, संतान के लिये दिये जाने वाले निस्स्वार्थ प्रेम की राह से होकर विश्व प्रेम में आगे चल भगवद्प्रेम के रूप में विकसित हो जाता है। यही प्रेम भारत

के राष्ट्र-कवि का आदर्श है। आज का छोटा सा घर आंगन वाला और छोटा सा परिवार वाला आदर्श नहीं, जो देखने में छोटा भले ही हो पर वह शीशे का टुकड़ा है, अपने भार से भव-सागर के यात्री को मझधार में ही डुबो दे। गुप्तजी बहुजन-गृही गृहस्थ का आदर करते हैं। उनका कथन है कि "होता है कृतकृत्य सहज बहुजन गृही।" यह बहुजनगृही परिवार देखने में बृहदाकार सा भले ही मालूम पड़े, एक गुब्बारे की तरह फूला फला दीख पड़े पर इसको फुलाने वाली गैस इतनी हलकी होती हैं कि मनुष्य चाहे तो इसी के सहारे आसमान भी तैर जा सकता हैं। उन्होंने जिस परिवार का 'साकेत' में चित्रण किया है वह बहुत बड़ा है, उसमें बन्धु-बांधवो, सगे-सम्बन्धियों की तो विशाल सेना है ही। नौकरों-चाकरों तक को भी हमारे कवि ने अपने हृदय के दान से महिमान्वित किया है। यहां तक कि पशु-पक्षियों तक भी उनकी दृष्टि गई है। ये भी हमारे जीवन के अंग हैं। भारतीय साहित्य में पशु-पक्षियों ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किये हैं, पर अधिकतर उनकी क्रियायें जीवन के रसात्मक प्रसंगों तक ही सीमित रही हैं। गुप्तजी ने 'साकेत' के सुग्गे को परिवार संबद्ध कर और उर्मिला को लक्ष्मण के प्रति यह कहने का अवसर देकर कि

"और भी तुमने किया कुछ है अभी
या कि सुग्गे पढ़ाये हैं अभी"

केवल विनोदामृत ही नहीं बहाया है परन्तु भविष्य के कवियों का ध्यान इस ओर भी आकर्षित किया है कि परम्परा से प्राप्त इन जीवों की सेवायें नये नये मार्गों में नियोजित करें। मैं बड़ी उत्सुकता से हिन्दी में एक प्रतिभाशाली कवि की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जो भारतीय जीवन के गंभीरतम प्रसंगों को इन पशु-पक्षियों के व्यापारों का सहारा दें। वास्तव में पशु-पक्षियों का इस तरह का जीवन-प्रदायक रूप आज तक उपेक्षित ही रहा है। ऐसा लगता है कि हमारे राष्ट्रकवि का भी ध्यान इस ओर अधिक खींचना चाहिए था। पर हम निराश नहीं हैं। आज भी उनकी प्रतिभा क्रियाशील है, जिसका जादू हम देख ही रहे हैं।

सारांश यह कि हिन्दी का यही एक कवि है, जिसने भारतीय गार्हस्थ्य को स्नेह से देखा है और उसके गौरव की स्थापना करने की चेष्टा की है। गार्हस्थ्य एक बहुत बड़ा व्यापक भाव है, इसकी परिधि बहुत व्यापक है। इसमें शृंगार है, संयोग है, वियोग है, वात्सल्य है, स्नेह है, श्रद्धा है, भक्ति है,

बहनापा है, सेव्य-सेवक भाव है, न जाने कितने पहलू हैं। सूर ने वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं, उन सब को चित्रित किया है। ठीक उसी तरह गुप्तजी का ध्यान गार्हस्थ्य के प्रत्येक पहलू की ओर गया है।
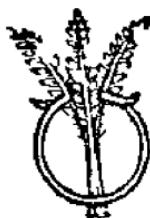
लक्ष्मीनारायण मिश्र की नाट्य-कला

पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र जी के नाटकों से मेरा परिचय एक विचित्र नाटकीय ढंग से हुआ। सन् १९३० में मैं इतिहास के एम० ए० का विद्यार्थी था। पटने में युवक आश्रम के पास ही मठिया में रहा करता था। "युवक" विहार का एक-मात्र सर्वप्रथम क्रांतिकारी मासिक पत्र था। जिन नवयुवकों में हिन्दी-साहित्य के प्रति प्रेम था और जिनके हृदय में क्रान्ति की आग थी, नवयुवक आश्रम इनके लिये तीर्थ स्थान था। विशेषतः बनारस विश्वविद्यालय के तरुण साहित्यिक तो सदा आते ही रहते थे।

मिश्र जी एक बार आये थे: 'सिन्दूर की होली' नामक नाटक उन्होंने लिख लिया था। प्रतिलिपि करानी थी। परीक्षा सर पर खड़ी थी। पर मैंने 'सिन्दूर की होली' की प्रतिलिपि तैयार कर अपने को गौरवान्वित समझा। शायद वह मिश्र जी का दूसरा नाटक था। इसके पहले वे "अशोक" की रचना कर चुके थे। इन पच्चीस वर्षों में हिन्दी साहित्य के अन्य अंगों की तरह नाटक का भी पर्याप्त विकास हो गया है और वह समृद्ध नजर आता है। पर उस समय भारतेन्दु और प्रसाद ये दो ही नाम नाटक के क्षेत्र में याद किये जाते थे। भारतेन्दु को भी शायद लोग भूल चले थे। पारसी थियेट्रिकल नाटकों की सस्ती चमक का इन्द्रजाल भी कम से कम साहित्यिक सुरुचि वाले व्यक्तियों के मन से उठ चुका था और वे प्रसाद जी के साहित्यिक नाटकों पर लट्टू हो रहे थे। ऐसे ही अवसर पर मिश्रजी अपने नाटकों को लेकर साहित्यिक क्षेत्र में अवतरित हुए।

अतः मिश्रजी के नाटकों पर विचार करते समय प्रसाद की नाट्य-कला को हमें सदा सामने रखना होगा। साहित्य के विकास में सदा क्रिया और

प्रतिक्रिया की शृंखला काम करती रहती है। प्रसाद जी स्वयं पारसी नाटकों की प्रतिक्रिया के रूप में तथा डी० एल० राय के नाटकों के रोमांस से प्रेरणा ग्रहण कर नाटक-क्षेत्र में आये थे। उसी तरह मिश्रजी के नाटक का जन्म प्रसादजी की साहित्यिक अतिवादिता, काल्पनिक रंगीनी और अनभिनेयता की प्रतिक्रिया के रूप में इब्सन की प्रेरणा से हुआ था।

डा० दशरथ ओझा ने 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' में एक स्थान पर लिखा है कि "मिश्रजी का मत है कि प्रसाद के नाटकों में रंगमंच पर जो आत्महत्याएँ कराई जाती हैं, संवादों में जो अस्वाभाविकता पाई जाती है, प्रेम की अभिव्यक्ति में जो लम्बे भाषण कराए जाते हैं, कौमार्य को विवाह से श्रेष्ठ माना जाता है, कल्पना में जो उन्माद भरा रहता है, वह भारतीय नाट्य-पद्धति के विरुद्ध है। इसी कारण वह अपने नाटकों में आत्महत्या, काव्यमय संवाद, प्रेमी-प्रेमिका के लम्बे भाषण और कौमार्य-महत्व एवं कल्पना में अतिरंजित को स्थान नहीं देते।" आलोचक की इन पंक्तियों से तथा अपने नाटकों की भूमिका में यत्र-तत्र मिश्रजी ने जो पंक्तियाँ लिखी हैं, उन से यह स्पष्ट है कि मिश्रजी प्रसाद से भिन्न मान्यताओं को लेकर आये और ये मान्यतायें ठीक प्रसाद के नाटकों के सिद्धान्तों के विरोध में उत्पन्न हुई थी।

यहाँ हम यही देखेंगे कि मिश्रजी ने हिन्दी नाटक साहित्य के लिये क्या किया? उसमें उनका अनुदान क्या है? नाटक की कथा-वस्तु तीन तरह की होती है। प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्रित। जिस नाटक की रचना किसी पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथा के आधार पर होती है उसे प्रख्यात कहते हैं तथा जिसमें नाटककार की कल्पना स्वतन्त्र रूप में कथा की सृष्टि कर किसी तत्कालीन समस्या के स्वरूप को हमारे समक्ष रखती है वह है उत्पाद्य। संस्कृत साहित्य के जितने नाटक हैं वे प्रायः प्रख्यात हैं। भारतेन्दु-युग में जब अँग्रेजी साहित्य से हमारा परिचय बढ़ा और एक नई रोशनी मिली तो हमारी आँखें खुलीं। मध्य-युग की जकड़ी हुई मनोवृत्ति दूर हुई और हम में स्वतंत्र चिन्तन के भाव जागे, हमने प्राचीनता की ओर देखने की प्रवृत्ति का त्याग किया। नाटक के क्षेत्र में हमारी आधुनिकता इस रूप में परिलक्षित होती है कि वहां कल्पना ने प्रवेश किया और उत्पाद्य कथाओं की वृद्धि होने लगी। भारतेन्दु की कल्पना ने अनेक उत्पाद्य नाटकों की सृष्टि कर आधुनिक समस्याओं को महत्व दिया।

इस उत्पाग्रता का दर्शन भारतेन्दु-युग के अन्य नाटककारों में भी पाया जाता है। आशा यही बँधती है कि आगे चल कर हिन्दी में निरंतर इस प्रवृत्ति का विकास होना चाहिये। पर प्रसादजी में यह प्रवृत्ति कुछ अवरुद्ध-सी मालूम पड़ती है। उनके सब नाटक प्रख्यात हैं जिसमें भारतीय इतिहास के किसी गौरवपूर्ण पृष्ठ को जागृत किया गया है। आधुनिकता का रंग है अवश्य, पर प्रचीनता की भव्यता के सामने वह छिप जाता है।

'ध्रुवस्वामिनी' में आधुनिकता तथा उसकी समस्या कुछ अधिक स्पष्ट रूप में अवश्य आई है पर कथा तो वही प्रख्यात ही है। मिश्रजी में इस प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया पाई जाती है। मैं यह नहीं कहता कि उन्होंने प्रख्यात नाटक लिखे ही नहीं, 'वितस्ता की लहरें', 'दशाश्वमेघ', 'अशोक' इत्यादि तो प्रख्यात ही हैं। पर मेरा ख्याल है कि आगे चलकर जब हिन्दी नाटकों की प्रगति का इतिहास लिखा जायेगा तो वे 'सिन्दूर की होली', 'राक्षस का मंदिर', 'संन्यासी', 'मुक्ति का रहस्य', इत्यादि के लिये ही वे याद किये जायेंगे। प्रसादजी के नाटकों का कथानक जटिल होता था तथा उसमें पात्रों की भरमार रहती थी। यहां तक कि उनकी संख्या तीस-तीस, चालीस-चालीस तक भी पहुंच जाती थी। 'अजातशत्रु' में तीन राजकुलों के कथानकों को इस तरह एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न किया गया है कि सारा नाटक उलझे हुए सूत्रों का जखीरा बन गया है और अनेक बार पढ़ने पर भी पाठकों को कथा की गति को समझने में कठिनाई होती है। दर्शकों को जिस परीक्षा तथा मस्तिष्क-भार का सामना करना पड़ता होगा वह तो कल्पना ही की जा सकती है। राम की कथा को लेकर रचित नाटक में यदि जटिलता आ जाय तो काम चल सकता है। कारण प्रत्येक व्यक्ति राम-कथा से परिचित है। वह कथा की टूटी कड़ियों को अपनी कल्पना से भी जोड़ कर काम चला सकता है। पर 'अजातशत्रु' की ऐतिहासिक जटिलता से जनता परिचित नहीं है।

यह बात दूसरी है कि कुछ इतिहासवेत्ता ही नाटक के पाठक या दर्शक हों। पर यह नाटक की अपील को बहुत सीमित कर देना होगा। मिश्रजी ने सबसे पहली बात यही की कि कथानक को सीधा-सादा सहज और बोधगम्य बना दिया। पात्रों की संख्या स्वयं ही कम हो गई और नाटक के शरीर में एक स्फूर्ति, कान्ति, चुस्ती आ गई मानो अस्वस्थ और अतिरिक्त मांस तथा वसा इत्यादि प्राकृतिक उपचार के कारण क्षीण हो गये हैं और स्वस्थ शरीर में ताजे रक्त की लालिमा फैल गई हो। प्रसादजी के नाटक

प्राय पाच अंकों में समाप्त होते थे तथा एक अंक मे १०, १५ तक भी दृश्य हो सकते थे। मनोविज्ञान तो यही कहता है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है दर्शकों के धैर्य की सीमा भी टूटती जाती है। अत अंकों को क्रमश लघुता का रूप धारण करते जाना चाहिये। पर प्रसाद जी के नाटकों का अंतिम अंक सबमे बृहत्तम भी हो सकता था। मिश्रजी के नाटकों में इन मनोवैज्ञानिक त्रुटियों का सर्वथा अभाव है। ये प्राय तीन अंकों मे समाप्त होते हैं, नाटको मे गीतों का सर्वथा अभाव है। भाव-वैभव और कल्पना तो है पर बौद्धिक विवेचन का आग्रह सदा वर्तमान रहा है। भाषा प्रसादमयी, कथा को अग्रसर करने वाली है। परिस्थिति से अनुकूलता तथा स्वाभाविकता का निर्वाह करते हुए भी वह साहित्यिक रही है और दैनिक वार्त्तालाप के साधारण स्तर पर नहीं उतरने पाई।

ऐसा लगता है कि मिश्रजी मन ही मन यह ठान कर चले थे कि पौराणिक या ऐतिहासिक आधार पर नाटकों का निर्माण नहीं करेंगे। 'सन्यासी' की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि "इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य मे वाछनीय नहीं।" हो सकता है कि उनके हृदय में ये भाव प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए हों। इस भाव से प्रेरित होकर उन्होंने जो कतिपय नाटक - 'सन्यासी', 'राक्षस का मंदिर', 'सिन्दूर की होली', 'आधीरात' इत्यादि लिखे हैं उनमें ही उनकी नाट्य-कला का पूर्ण निखार दिखलाई पड़ता है। इनमें ही मिश्रजी का निजत्व मिलता है। इनमें ही संवादों की स्वाभाविकता, लम्बे-लम्बे संवादों का अभाव, चलते व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग, कथानक की सीधापन, आधुनिक समस्याओं का साग्रह प्रवेश इत्यादि विशेषतायें दिखलाई पड़ती है जो प्रसाद की नाट्य-कला से उन्हें पृथक् कर देती हैं। यद्यपि भारतेन्दु-युग के नाटकों में ही बाल विवाह, विधवा विवाह, देश-भक्ति इत्यादि समस्याओं का प्रवेश हो चला था और नाटकों के माध्यम से विचार करने तथा इनके प्रति लोगों के ध्यान आकृष्ट करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी पर फिर भी हिन्दी के समस्या नाटकों के जन्मदाता मिश्रजी ही कहे जायेंगे, कारण कि उनके पहले जितने नाटककार हुए हैं वे राम-कथा या कृष्ण-कथा मे निमग्न रहे और यों ही कभी कभी आंख उठाकर तत्कालीन समस्याओं की ओर भी देख लेते हैं। प्रसादजी चाहते हुए भी आधुनिक समस्याओं के साथ न्याय नहीं कर सके। उन की प्रतिभा प्रेरणा के लिये सदा अतीत का ही मुँह

जोहती रही जिससे वे पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो सके।

पर मिश्र जी हिन्दी के प्रथम नाटककार है जो देह झाड़ कर नवीनता के रंगमंच पर आ गये और उसी का जयोच्चार करने लगे। और एक पर एक ताबड़तोड़ कितने ही समस्या-नाटकों की रचना करके ही दम लिया। 'संन्यासी' (सं० १६८८) में सह-शिक्षा की समस्या के साथ राष्ट्रीय जीवन के अनेक पहलू आ गये हैं। राक्षस का मन्दिर' (सं० १६८८) आधुनिक युग के अत्यन्त काम-वासनामय व्यक्तियों की कथा है तथा नारी-उद्धार आन्दोलन के नाम पर स्थापित मातृ -मन्दिरों की पोल खोली गई है। 'मुक्ति के रहस्य' (सं० १६८६) में आधुनिक युग के पुरुष और नारी के बीच एक दूसरे पर प्रभुत्व स्थापन करने लिये जो वैज्ञानिक स्तर पर युद्ध चलता है उसका वर्णन है। 'सिंदूर की होली, (१६६१) में आधुनिक मनुष्य की धन-लिप्सा तथा उसके लिये जघन्य कर्म करने की प्रवृत्ति का वर्णन है। साथ ही एक नारी के हृदय की विशालता का भी वर्णन है। 'आधी रात' १६६४) में एक ऐसी नारी की समस्या छेड़ी गई है जो जन्म से तो भारतीय है पर शिक्षा-संस्कार में विदेशी है। 'राजयोग' (सं० २००६) में भी विषम विवाह की समस्या उठाई गई है। इस तरह इन नाटकों को देखने से हमारे मस्तिष्क के सामने संस्कृत अलंकार-शास्त्रियों के दीर्घ-दीर्घतर न्याय की बातें याद आ जाती हैं। यदि पूरी शक्ति लगा कर आप बाण छोड़िये, उसके मूल में जितनी प्रेरणा-शक्ति होगी उसी के अनुरूप वह दीर्घ से दीर्घ होता हुआ अपने गंतव्य लक्ष्य-बिंदु पर जाकर ही तो दम लेगा। बीच में नहीं। उसी तरह मिश्र जी के हृदय में मौलिक समस्या-नाटकों की रचना करने के जो भाव जगे हैं वे उनसे अपने अनुरूप कुछ नाटकों का प्रणयन करा कर ही शांत हुए हैं और इन्हीं नाटकों में मौलिकता की देदीप्यमान चमक है। सं० २००० के बाद के नाटकों को देखने से ऐसा लगता है कि मिश्रजी की नाट्य-कला ने मोड़ लिया है और फिर से वे ऐतिहासिक कथानकों की तरफ मुड़े हैं। 'नारद की वीणा' (सं० २००३), गरुड़ध्वज' (सं० २००८) 'वितस्ता की लहरें' सं० (२०१०), दशाश्वमेध (सं० २००६) ये सब इधर की रचनायें है। मिश्र जी की नाट्य-कला के इस परिवर्तन का क्या कारण है? इसका भी उत्तर मिश्रजी ने दे दिया है: "प्रसाद के नाटकों से भारतीय संस्कृति और जातीय जीवन-दर्शन की जो हानि मुझे दिखलाई पड़ी, भावी पीढ़ी के पथभ्रष्ट होने की आशंका मेरे भीतर उपजने लगी—उसके निराकरण के लिये मुझे ऐसे नाटक

रचने पड़े जिनमें हमारी संस्कृति और जीवन दर्शन का यह सत्य उतर उठे जो कालीदास और भास के नाटकों में पहले से ही निरूपित है"। यह उत्तर कहां तक संगत तथा युक्तियुक्त है—इस पर पाठक स्वयं विचार करें। मेरा कहना यह है कि कोई कृतिकार अपनी कृति के बारे में जो कुछ कहता है वह सर्वथा निर्भ्रामक हो, यह कोई निश्चित नहीं है।

जब कोई स्रष्टा अपनी रचना के बारे में कुछ विचार करने लगता है तो वह भी एक साधारण पाठक की स्थिति में आ जाता है। कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा एकदम अलग-अलग शक्तियां रही हैं और उनका क्षेत्र भी अलग अलग रहा है। जहां तक आलोचना करने का प्रश्न है, रचनाकार को कोई विशिष्ट स्थिति नहीं होती बल्कि यह भी हो सकता है कि एक साधारण तटस्थ आलोचक किसी रचना के बारे में जो विचार व्यक्त करे वह अधिक संगत तथा विश्वासनीय हो कारण कि वह थोड़ी तटस्थता से काम ले सकता है। रचनाकार की आत्म निष्ठता उसे गलत ढंग से भी देखने को प्रेरित कर सकती है।

मिश्रजी के नाटकों में इस परिवर्तन का अर्थात उत्साशता से हट कर प्रख्यान स्तर की ओर मुड़ने का कारण दूसरा है। भले ही मिश्र जी के चेतन मस्तिष्क पर यह स्पष्ट हो कर नहीं आया हो और आया भी हो तो छद्मवेश में दूसरा रूप धारण कर—ठीक उसी तरह जिस तरह हमारे स्वप्न-हमारी कुछ मूल भावनाओं के परिवर्तित तथा मार्जित रूप होते है। मिश्र जी की अन्तश्चेतना प्रसाद और उनकी कला से प्रभावित है। वह महसूस करती है कि नाटक को आज के युग में भी इतिहास तथा पौराणिक कथाओं के आधार से गड़े मुर्दे उखाड़ने के नाम पर वंचित कर देना उसके हाथ से एक बड़े साधन को छीन लेना होगा जिसके द्वारा वह मानव का हृदय स्पर्श करता है। पर कुछ-तो नूतनता के प्रभाव में आकर और कुछ नई चीज देने की प्रवृत्ति के कारण भी मनुष्य 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं' वाले सिद्धान्त को खींचकर दूर तक ले जाता है और क्रांति के नाम पर अपने को पुजवाना चाहता है। यह भावना मिश्र जी में अवश्य काम कर रही थी। नहीं तो बात बात में प्रसाद जी का नाम लेने का क्या अर्थ हो सकता है?

स्पष्ट है कि प्रसाद जी की कला के वे कायल है। सम्भव है परिस्थितियों के कारण उनके अन्दर प्रसाद की नाट्य-कला के प्रति विद्रोह के भाव जगे

हों पर उनके अन्दर कहीं न कहीं उसके प्रति आदर-भावना भी दुबकी पड़ी थी जो ज्वार उतरे जाने पर फिर उभर आई। इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप को हम स्वर्गीय महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के जीवन से देख सकते हैं। द्विवेदी जी से बढ़ कर हिन्दी साहित्य का हितैषी और अंग्रेजियत का विद्रोही कौन होगा ? पर उनके साहित्य के किसी पाठक को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि उन पर अंग्रेजी की छाप कितनी गहरी थी—उन्होंने जो कुछ लिखा है वह ८० प्रतिशत अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित है। फिर भी वह अंग्रेजी का अंधानुसरण मात्र नहीं। उसमें द्विवेदीजी का निजत्व है। उन्होंने उसे अपने रंग में इस तरह ढाल दिया है कि वह बिल्कुल स्वदेशी बन गया है। उसी तरह मिश्र जी के सारे नाटक, विशेषतः इधर के ऐतिहासिक नाटक, प्रसाद जी के ही प्रभाव में लिखे गये हैं। फिरभी प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' और मिश्र जी की 'वितस्ता की लहरें' एक ही किस्म की चीजें नहीं हैं। लेकिन यह भी ठीक है कि इन नाटकों में प्रसाद जी की कला का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

संवादों को लीजिये। हम मिश्र जी के नाटकों को दो श्रेणियों में विभाजित कर लें—उत्पाद्य और प्रख्यात। काल की दृष्टि से इन्हें पूर्व २० वीं शती विक्रमांक कहें और दूसरे को विक्रम बीसवीं शताब्दी तो हम पायेंगे कि दूसरी श्रेणी के नाटकों के संवाद अधिक गंभीर, भावनात्मक, भावपूर्ण तथा लम्बे हैं। फिरभी इनमें प्रसाद के संवादों की गतिहीनता, दार्शनिकता तथा बोझिलता नहीं है। उदाहरण लीजिये "यवन विजय की यह कथा हमारी भाषा में नहीं लिखी जायेगी। नींद में सोए अजगर को जम्बूक ने दाँत मारा है। अजगर की नींद समय पर खुलेगी तब यह भी मर चुका रहेगा। अपने नाम का नगर जो यह बसाता चला आ रहा है........उन नगरों को नहीं रहना होगा। यवन विजय के.....ऐसे पाताल में गाड़े जायेंगे कि भावी पीढी को इसका पता भी नहीं चलेगा। क्षत्रिय की असि का कलंक ब्राह्मण की लेखनी पर नहीं चढ़ेगा।" (वितस्ता की लहरें)। ये पंक्तियाँ साधारण बोल चाल की भाषा की नहीं है। ऐसा लगता है कि प्रसाद जी जरा नीचे उतर आये हों और मिश्र जी ऊपर उठ गये हों, और दोनों के मिलन बिन्दु पर भाषा की सृष्टि हुई हो।

मिश्र जी प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दी में नाटककार की प्रमुखता

की स्थापना की। इनके पूर्व के नाटककार मंच निर्देश नहीं देते थे। अत प्रबन्धक को पात्रों की वेशभूषा, वातावरण, अभिनय, अंग-संचालन के रूप को निश्चय करने की पूरी स्वतन्त्रता रहती थी और इसके कारण कहीं-कहीं अर्थ का अनर्थ हो जाता था। यह कोई आवश्यक नहीं कि निर्देशक नाटक की आत्मा को ठीक तरह से हृदयगम कर ही सके। मिश्र जी ने अपने नाटकों मे रग निर्देश पूर्ण रूप से दिये हैं। अत इन्होंने मच-प्रबन्धक के अनुचित हस्तक्षेप से नाट्य-कला की रक्षा की है। कहने का अर्थ यह कि मिश्र जी की नाट्य-कला मे भारतीय आत्मा अपने वास्तविक गौरव के साथ नयी साज-सज्जा में प्रगट हुई है। इनमें यूरोप के निम्मित नाटकों की पद्धति का पूर्ण रूप से उपयोग किया गया है। लेकिन इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता वे भारतीय मान्यताओं के प्रतिकूल हैं।

उन्होंने सदा ही पति पत्नी के बधन और कर्त्तव्य की सीमा में आबद्ध प्रेम को स्वच्छन्द तथा वैयक्तिक प्रेम से श्रेष्ठ बताया है। विधवा विवाह को उन्होंने कभी भी उतने महत्वपूर्ण रग मे रग कर चित्रित करने का प्रयत्न नहीं किया है। ऐतिहासिक नाटकों मे हिन्दी नाटककारों का ध्यान उत्तर भारत के इतिहास के गौरवमय पृष्ठों तक ही सीमित रहता था। पर मिश्र जी का ध्यान प्रागैतिहासिक युग तथा दक्षिण-भारत के इतिहास की ओर भी गया है। 'नारद की वीणा' (स २००३) का निर्माण एक प्रागैतिहासिक काल की घटना के आधार पर हुआ है। इसमें आर्यों और अनार्यों के सघर्ष की एक झलक दिखलाई गई है। 'कावेरी' कुल तीन एकांकियों का सग्रह है। इसमे दक्षिण भारत की कथा है।

इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दी नाट्य-कला दक्षिण भारत के इतिहास को भी अपना सरक्षण और पोषण देने लगी है। हिन्दी नाट्य-कला की प्रगति की दृष्टि से इसे मैं एक बड़ी बात मानता हूँ। यह हिन्दी साहित्य की सफलता और दृष्टि-व्यापकता का चिन्ह है। आज जब हम हिन्दी के अन्य नाटककारों की रचना को देखते हैं तो यही कहना पड़ता है कि मिश्र जी ने हिन्दी नाटकों को जिस स्थान पर लाकर छोड़ दिया था, वह वहीं पर ज्यों का त्यों है। हिन्दी नाटक-साहित्य में मिश्र जी की देन क्या है? इसे यों समझिये तो बात स्पष्टतर होगी। हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास मे चाहे जो कुछ घटना घटे पर एक बात नहीं होगी। वह यह, कि प्रसाद के रोमांटिक कल्पना-

प्रधान नाटकों के दिन लद गये। उन्हें फिर से पुनर्जीवित करने वाला नाटककार सचमुच बड़ा साहसी होगा? इसका श्रेय मिश्र जी को है। भविष्य में जो भी नाटक हिन्दी में लिखे जायेंगे उनकी रचना मिश्र जी की पद्धति पर होगी या उसी का कोई विकसित रूप होगा।

क्या उतने विश्वास के साथ कोई कह सकता है कि मिश्र जी द्वारा प्रवर्त्तित नाटक-शैली की जड़ को किसी नूतन प्रतिभा ने जरा भी टस से मस किया है? सबसे बड़ी बात यह कि मिश्र जी ने हिन्दी-नाटक को एक उपयुक्त शरीर दिया है। प्राणों का स्पन्दन तो पहले भी था, पर शरीर के अभाव में उसका महत्त्व नगण्य है। कालीदास ने दिलीप के दिव्य वपु का वर्णन करते हुए लिखा है।

व्यूढ़ोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवापरः॥

[रघु० १—१३]

ठीक उसी तरह मिश्र जी ने हिन्दी नाटक को "नाट्य-धर्म... आत्मकर्म क्षमं देहं" से समन्वित किया है। सरल स्वाभाविक अन्तर्जगत के चित्रण में समर्थ भाषा, सीधा-साधा कथानक तथा अभिनय, अंकों एवं दृश्यों का संतुलित विभाजन। और आप चाहते ही क्या हैं? हिन्दी नाटकों के विगत अर्द्ध शताब्दी की प्रगति को देखता हूँ तो मेरी कल्पना के सामने मनोविज्ञान के साहचर्य-सिद्धांत (Laws of Association) के सहारे १९वीं शताब्दी के अंग्रेजी नाटकों का इतिहास उपस्थित हो जाता है। १९वीं शताब्दी जहां साहित्य के अन्य रूप-विधानों में समृद्ध रही, काव्य-वैभव का वैसा युग कभी आया ही नहीं, पर नाटकों के लिये तो यह युग दरिद्र ही रहा। १८वीं शताब्दी के अन्त में प्रकाशित शेरिडन के 'School for Scandal' और आस्कर वाइल्ड या वर्नार्ड शॉ की प्रारम्भिक सुखान्त नाट्य-कृतियों के बीच कोई ऐसी रचना देखने में नहीं आई जो नाटक नाम को सार्थक कर सके। रोमांटिक कवियों ने कुछ नाटक जैसी चीजें लिखी अवश्य हैं। पर उनमें उनकी वैयक्तिक कल्पना का प्रवाह, हृदयस्थ स्वच्छन्द भावों की अभिव्यक्ति ही प्रधान हो गई है और उनकी नाटकीयता छिप गई है। ठीक इसी तरह कहा जा सकता है कि हिन्दी का छायावाद जो अंग्रेजी

के रोमांटिक काव्य के ही अनुरूप है, हमें एक भी नाटक नहीं दे सका।
पर छायावादी युग इस बात में सौभाग्य शाली है कि इसके प्रारम्भ से ही,
इसके कैम्प से ही विद्रोह का अंकुर निकला, जिसने अनाटकीयता के लाञ्छन
से इसे मुक्त करने का सफल प्रयत्न किया। मैं यह इस लिए कह रहा हूँ कि
मिश्र जी ने भी अपना साहित्यिक जीवन वैयक्तिक उद्‌गीतियों के संग्रह—
अन्तर्जगत्—से ही प्रारम्भ किया था जिसमें हृतन्त्री के तार की झंकार ही
अधिक प्रमुख थी।

महादेवी की आलोचना-पद्धति

महादेवी जी मुख्यतः वाह्य-जगत की स्थूलता और अन्तर्जगत की सूक्ष्मता दोनों पर व्यापक दृष्टि से देखने वाली कवयित्री हैं। इनमें न तो किसी एक के लिये आग्रह है और न दूसरे के लिये निषेध। जब जिस तरह जिस किसी वस्तु का उनके हृदय पर जिस तरह की प्रतिक्रिया हुई है वहीं कुछ गीत की रागिनियों के रूप में सामने आ गई है। उनमें जो कुछ है, सहज है, स्वयमुत्थित, अन्तःप्रेरित है; श्रम-साध्य नहीं, प्रयत्न-सापेक्ष नहीं। अतः उन्हीं के शब्दों में उनकी सम्पूर्ण कविता का रचना काल कुछ ही घंटों में सीमित किया जा सकता है, "प्रायः ऐसी कविताएँ कम हैं जिनके लिखते समय मैंने चौकीदार की सजग करने वाली या किसी अकेले जाते हुए पथिक के गीत की कोई कड़ी नहीं सुनी।" चाहे जो हो, बुद्धि को नोच-नोच कर मस्तिष्क में जम कर बैठ गई रहने वाली बातों को अर्द्ध निशा के रोशनदान के सहारे कलम की नोंक से खुरच कर काव्य की पंक्तियाँ गढ़ी गई हों अथवा अन्तस् की उमड़न अप्रत्याशित रूप में ही साकार हो गई हो, पर एक समय आता है जब कलाकार या कवि अपनी कृतियों पर विचार करने ही लगता है। जिस मानसिक स्थिति ने सृजन की विवशता उपस्थित कर दी उसकी मूल प्रेरणा का स्रोत कहाँ है, हृदय का वह केन्द्र जहाँ से काव्य-कृतियाँ अपना रूप धारण करती हैं कहाँ है, इन सब प्रश्नों पर विधायक कवियों का ध्यान जाना अनिवार्य है। कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के पृथकत्व को मान लेने से अथवा कवि और भावक की पृथक स्थिति स्वीकार कर लेने से आलोचना करने अथवा आलोच्य-कृति पर कुछ बातचीत कर लेने की सुविधा भले ही हो जाय, पर अन्ततः एक ऐसी सीमा आती है जहाँ दोनों का सम्मेलन हो

जाता है। कवि और भावक परस्पर प्रेमालिंगन में आबद्ध हो एक दूसरे के प्रति अपने हृदय को खोल कर रख देते हैं। उस समय इन दो व्यक्तियों में अथवा एक ही व्यक्तित्व के दो खण्डों में जो परस्पर निवेदन होता है या स्वीकारोक्तियाँ होती हैं, उनमें सच्चाई होती है, मार्मिक स्पन्दन होता है और होती है विश्वासोत्पादकता।

आलोचक ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपनी सारी प्रतिभा दूसरों की काव्य कृतियों की छानबीन, मूल्यांकन और महत्वनिरूपण में ही लगाई है, एक भी काव्य-कृति उनके नाम पर प्राप्त नहीं है अथवा है भी तो यों ही सी निर्जीव बेगार सी टाली हुई चीज। इस वर्ग के आलोचकों द्वारा बहुत सी ज्ञातव्य बातें प्राप्त हुई हैं, काव्य के अनेक पहलुओं पर प्रकाश पड़ा है, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि आलोच्य-वस्तु उनके लिये अज्ञात-कुलशील बालक की तरह रही हैं जिस पर वे एक दूरस्थित व्यक्ति की दृष्टि से देख रहे हैं। अज्ञातकुलशील बालक कहना अतिव्याप्त सा हो और जो कुछ मेरे भाव हैं उससे अधिक परिधि घेर लेता हो, पर इतना तो निश्चित है कि काव्य-रूपी शिशु के साथ इनका वह रागात्मक दृष्टिकोण नहीं जो एक मातृ हृदय का होता है। ज्यादा से ज्यादा यही कहा जा सकता है कि इनका दृष्टिकोण एक लापरवाह पिता का है जो निर्माण में एक स्थूल साधन मात्र होता है, माँ की तरह नहीं जो स्थूल और सूक्ष्म न जाने कितने साधनों से जीवन के सृजन की सहचरी होती है। यही कारण है कि इस श्रेणी के आलोचकों में वह सहजता या मार्मिकता या बन्धुत्व की विश्वासोत्पादकता नहीं होती। पाठक का हृदय काव्य शिशु के सम्बन्ध में कही गई बातों पर उस तत्परता के साथ विश्वास कर लेने पर तैयार नहीं होता जिस तरह माँ की बातों के लिये होता है। कवि के काव्य-शास्त्र में अर्थात् काव्य-सम्बन्धी विचारों में प्रत्यक्ष साक्षी (Eye-Witness) की स्पष्टता रहती है और दृढ़ाधार होता है। कवि काव्य सृजन के सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यापार से साक्षात्रूपेण परिचित रहता है, अतः उसकी बातें तुरन्त ही हृदय में घर कर लेती हैं। यह बात भले ही सत्य हो कि इस तरह के आलोचक के विचार एक सुव्यवस्थित और शृंखलित ढंग से न कहे गये हों, उन्हें तर्क जाल से चारों ओर घेरने का प्रयत्न न किया गया हो, पर जो कुछ भी उन्होंने कहा है उसका महत्व इससे कम नहीं हो सकता। भावनावाद (Romatnicism) के उन्नायक कवि वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली इत्यादि ने काव्य तथा कला के सम्बन्ध में जो विचार प्रगट

किये हैं वे किसी भी तटस्थ आलोचक से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं और साहित्य के पाठकों के द्वारा कम आदर से नहीं देखे जाते।

महादेवी जी का काव्य-शास्त्र भी अंग्रेजी के इन्हीं भावतरङ्गवादी कवियों की तरह है। एक तो छायावादी काव्य, जिसकी महादेवी प्रधान प्रतिनिधि हैं, और भावतरङ्गवाद में अत्यधिक समानता है ही, यहाँ तक कि बहुत से लोगों ने इसे छायावाद न कह कर रोमांसवाद कहना ही अच्छा समझा है। जिस तरह अंग्रेजी के भावतरङ्गवादी कवियों ने अपने काव्य-संग्रहों के लिये लम्बी-लम्बी भूमिकाएँ लिख कर अपने काव्यात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है उसी तरह पंत, महादेवी इत्यादि ने भी अपनी पुस्तकों की भूमिकाएँ लिखकर स्थूल की इतिवृत्तात्मकता के विरोध में खड़ी होने वाली सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति तथा प्रकृति के खण्ड-खण्ड को चैतन्य के पुलक स्पर्श से अनुप्राणित पाने वाली मनोवृत्ति के आधार पर रचित कविताओं को स्पष्ट किया है। इस तरह महादेवी ने 'आधुनिक कवि' और 'दीप-शिखा' की भूमिकाओं में जिन विचारों का प्रतिपादन किया है उनसे हिन्दी आलोचना के प्रवाह को एक नूतन गति मिलने की सम्भावना है। अभी इनमें प्रतिपादित विचारों को गम्भीरता पूर्वक मनन करने की ओर लोगों की दृष्टि नहीं गई है पर जब भी इनका अध्ययन होने लगेगा तो, मेरा विश्वास है, पता चलेगा, कि अपने काव्य की तरह महादेवी ने हिन्दी काव्य-शास्त्र के लिए भी नया और बहु-सम्भावना-गर्भित मार्ग का उद्घाटन किया है।

महादेवीजी अथवा छायावादी काव्य के प्रादुर्भाव के पूर्व हिन्दी में आलोचना की क्या अवस्था थी इस प्रश्न पर विचार कीजिये। यह देखिये कि उस समय आलोचक जब किसी काव्य का मूल्यांकन या उसके महत्व-निरूपण की ओर अग्रसर होता था तो उसके सामने सबसे बड़ा प्रश्न क्या रहता था। सब आलोचनाओं का मूल प्रश्न यही रहा है और रहेगा कि कविता की कसौटी क्या है? उस पर विचार करने के लिए हम किस मापदण्ड से काम लें। पूर्ववर्ती आलोचक इस प्रश्न को इस ढंग से अपने सामने रखते थे। आलोच्य काव्यकृति के मूल्यांकन की कसौटी को आलोचक कहाँ ढूढे। स्वयं उसका मस्तिष्क जिस कसौटी की रूप-रेखा निर्माण करता है उससे काम लिया जाय अथवा दूसरे आलोचक जिस परम्परा-विहित-रस-दृष्टि का आदर्श रख गये हैं उसके सहारे काव्य का मूल्यांकन किया जाय? दूसरे शब्दों में अलोचक अपने विचारों को प्रधानता दे अथवा परम्परागत सिद्धान्तों को?

आलोचना का यही रूप पद्मसिंह जी शर्मा तथा मिश्रबन्धुओं तक था। आलोचक एक बड़ी ऊँची भूमि पर खड़े होकर कवि से एक बड़े ही बुजुर्गाना लहजे में बातें करता था मानो कवि एक तुच्छ जीव हो जिसे अपने से खास दूरी पर रखना ही ठीक है। कवि ने काव्य-रचना की, बस उसका कर्तव्य समाप्त हो गया। उसकी एक सीमा खींच दी गई है, वह उस सीमान्त रेखा से आगे नहीं बढ़ सकता। उसके आगे आलोचक का आधिपत्य है। वह चाहे अपने शासन क्षेत्र में अपनी सोच-समझ से परिस्थिति के अनुकूल नये नियमों को लागू करे अथवा अपने पूर्ववर्ती शासकों के नियमों को ही चलने दे। उस क्षेत्र पर आलोचक की ही वैजयन्ती फहरायेगी, कवि की नहीं। आलोचक शासक है, कवि शासित। स्व० शुक्ल जी में थोड़ी सी उदारता थी। अन्य क्षेत्र में प्रचलित सामयिक विचार धाराओं के प्रति उनका हृदय सागण बन्द नहीं था। उन्होंने काव्यलोचन के क्षेत्र में अन्य-अन्य वर्गों को भी थोड़ा स्थान दिया, धर्म को, लोकसंग्रह को, नीति को। उन्होंने थोड़ा कवियों को भी साथ लिया। कवियों को कहना ठीक न होगा। कवि तुलसी को कहना अधिक ठीक होगा। उन्होंने कहा कि कविता पर विचार करते समय यह देख लेना बुरा नहीं है कि सगुण-धारा के भक्त कवि तुलसी के काव्य से उसको समर्थन मिलता है या नहीं।

इस समय आलोचना के क्षेत्र में महादेवी इत्यादि जैसी भावतरङ्गवादी विचारक आये और उन्होंने कहा कि आज तक काव्य-क्षेत्र के सामने आलोचना के प्रश्न को जिस ढंग से रखा गया है वह भ्रामक और त्रुटिपूर्ण है। उन्होंने कहा कि काव्य-शास्त्र के सामने मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि काव्य की कसौटी आलोचक के अन्दर पाई जाय या बाहर। मुख्य प्रश्न यह है कि काव्य का सच्चा मापदण्ड कवि की रचना के अन्दर से ही ढूँढ निकाला जाय या कहीं बाहर से। काव्य शास्त्र का मुख्य प्रश्न यही है और इसी आधार पर आलोचना की लड़ाई का निपटारा होना चाहिये। हमें दो ही बातें देखनी चाहिए कि कवि की मौलिक प्रेरणा में कहाँ तक सफलता है, दृढ़ता है, स्फूर्ति है, निर्भीकता है और कहाँ तक उसकी अभिव्यक्ति के साथ न्याय हुआ है। अथवा हमें काव्य की आलोचना करते हुए यह भी देखना चाहिये कि यह मूल प्रेरणा कहाँ तक सत्य और ठीक है और इसमें कलात्मक रूप धारण करने की कहाँ तक स्वाभाविक अनुरूपता है और अभिव्यक्ति में जो कौशल प्रदर्शन है वह कहाँ तक काव्य में जीवित सिद्धान्तों के अनुरूप है।

महादेवी जी ने जो साहित्य और काव्य सम्बन्धी विचार प्रकट किये हैं उनसे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। यह निष्कर्ष निकालना कहाँ तक ठीक है इस का विचार अभी ही होगा। पर यदि ऐसी बात है तो यह आलोचना के क्षेत्र में एक महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन है। इसका अर्थ होता है कि आलोचना का संचालन-सूत्र आलोचक के हाथ से छिन कर कवि के हाथों में आ रहा है। आज तक वहाँ का सम्राट आलोचक रहा है, पर अब राजमुकुट कवि के सिर पर बाँधा जा रहा है। आज के प्रजातन्त्रीय-युग में जिस तरह यह विचार-धारा फैलती जा रही है कि संसार की सम्पत्ति पर उन्हीं लोगों का अधिकार है जिनके श्रम से उसकी उत्पत्ति होती है और उन्हीं को उनके उपभोग, अथवा लाभालाभ प्रप्ति करने का अधिकार है, उसी तरह काव्य के महत्त्व-निरूपण में भी कवि व्यक्ति की प्रधानता होनी चाहिये, ऐसा नहीं कि कवि बेचारा काव्य की रचना करे और उसका उपभोक्ता हो आलोचक।

"कविः करोति काव्यानि, स्वादं जानन्ति पण्डिताः।"

यदि कोई काव्य की आलोचना करता है तो उसे कवि बनना पड़ेगा। शेक्सपियर की रचना के साथ न्याय करने के लिए अपने में, कल्पित ही सही, पर कुछ शेक्सपियरत्व तो लाना ही पड़ेगा। यह कवि की विजय है, उसके जन्म-सिद्ध अधिकारों की घोषणा है जो अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों के कण्ठ-स्वर से निस्सृत हुई थी और हिन्दी में महादेवी-प्रमुख छायावादी कवियों की रागिनी से।

महादेवी आपसे कहेंगी कि यदि आप साहित्य के साथ न्याय करना चाहते हैं तो आप कविता और साहित्य के स्वाभाविक नियमों में ही उसकी यथार्थ कसौटी खोजिए। एक किसी कवि विशेष, मसलन तुलसी की रचना में नहीं, साहित्य तो प्रकृति के जर्रे जर्रे, वायु की सरसराहट में पक्षियों के कलरव में, बालक के मुस्कान में, और क्रोधाभिभूति मानव के अकाण्ड ताण्डव में लिखा है। वहीं आपको सच्चे काव्य और सच्चे साहित्य की कसौटी मिलेगी। जिस काव्य की आलोचना करने आप जा रहे हैं, उस काव्य में भी नहीं, उस कवि में भी नहीं, पर साधारण कवि में—उस कवि में जिसके अभिलेख मानवता के पृष्ठ पर अमिट अक्षरों में अङ्कित हैं। "साहित्य का आधार कभी आंशिक जीवन नहीं होता है, सम्पूर्ण जीवन होता है। साहित्य में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती है जैसे धूप-

छोड़ वस्त्र में दो रंगों के तार जो अपनी अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रंगों से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते हैं। हमारी मानसिक वृत्तियों की ऐसी सामञ्जस्यपूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कहीं भी सम्भव नहीं। उसके लिये हमारा न अन्तर्जगत् त्याज्य है और न बाह्य, क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है, आंशिक नहीं" (आधुनिक कवि, पृष्ठ ४) कविता क्या है, कवि कौन है ? इन्हीं मौलिक प्रश्नों को ठीक हल करना चाहिये, तभी हमारी साहित्यिक बुद्धि-तुला निश्चित हो सकेगी। यदि इन मौलिक प्रश्नों की समस्या को सुलझा सकें तो तब हमारा निर्णय अचूक होगा। अतः आप पायेंगे कि महादेवी की कविता क्या है, साहित्य क्या है—इन प्रश्नों की छानबीन में अधिक परिश्रम किया है और अपने कुछ सिद्धान्त निकाले हैं।

महादेवी के कविता के मूलोद्देश्य के बारे में जो विचार हैं उनको अंग्रेजी के एक वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है-Poetry is born of aesthetic mother and utilitarian father अर्थात् कविता की उत्पत्ति सौन्दर्यवादी माँ और उपयोगितावादी पिता से हुई है। अतः यह दोनों के गुण और दोषों की अधिकारिणी रही है। सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। 'दीपशिखा' के 'चिन्तन के कुछ क्षण' में की प्रथम पंक्ति में ही कह कर मानो महादेवी ने अपने काव्य-संबन्धी व्यापक मंतव्य को स्पष्ट कर दिया है।

अंग्रेजी रोमांटिक आलोचकों में हेजलिट ने कविता की मूल-प्रवृत्ति को deepest and most universal spring of human nature कहा है और अकाट्य शब्दों में घोषणा की है कि कविता में ही हमारा वास्तविक जीवन पुंजीभूत रहता है और वही जीवन है। मनुष्य में काव्य के रसास्वादन की जहाँ तक शक्ति है वहीं तक ही उसमें जीवन है। साधारण मानव के व्यक्तित्व में कवि का शाश्वत निवास रहता है, उसी के नाते वह आलोचक हो सकता है। कवि जब तक आलोचक के हृदय को छूकर स्पन्दित नहीं कर देता, तब तक उसके कथन का कुछ अधिक मोल नहीं रह जाता। आलोचक चाहे राजनीतिज्ञ हो, नीतिवादी हो, साम्यवादी कम्यूनिस्ट हो उसका कवि ही उसे सच्चा उपभोक्ता तथा व्याख्याता बना सकेगा।

कहने का यह अर्थ है कि महादेवी ने आलोचना की समस्या को इस ढंग से हमारे सामने रखा जहाँ आज तक के निरादृत कवि की प्रतिष्ठा बढ़ी।

इस दृष्टि को अपनाने से हमारा काव्य-शास्त्र समृद्ध होगा—इसमें सन्देह नहीं।

महादेवी के काव्य-शास्त्रीय विचारों का सबसे बड़ा महत्व यह है कि उन्होंने काव्य को जीवन की विशाल और स्वाभाविक पृष्ठभूमि पर रखकर समझने और समझाने की सिफ़ारिश की है। काव्य में जीवन की मांग शुक्ल जी ने भी कम नहीं की है, पर जीवन शब्द से उनका अर्थ होता था 'रामचरित्रमानस' में अभिव्यक्त जीवन से अथवा अपने दुर्बल क्षणों में वे जीवन का अर्थ अपने अर्थों में समझे गये जीवन से करते थे। पर महादेवी के सामने जीवन अपने पूर्ण व्यापकत्व के साथ उपस्थित है। यही कारण है, कि एक ओर उन्होंने प्रगतिवाद की त्रुटियों का विश्लेषण किया है वहां छायावाद की कमियों की ओर से आंखें नहीं मूंद लीं। उन्होंने छायावाद के सम्बन्ध में कहा है कि "छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य-लोक में ही यह रागात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं, इसी से वह अपूर्ण है"। यह छायावाद की बड़ी कड़ी आलोचना है। शुक्ल जी ने भी तुलसी की 'कुछ खटकने वाली बातों' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित नहीं किया है सो बात नहीं, पर वे छोटी मोटी त्रुटियां हैं जिनकी अवस्थिति से काव्य पर कोई विशेष अपकर्षक प्रभाव नहीं पड़ता। जहां तक मौलिक दृष्टिकोण का प्रश्न है, जिसने तुलसी काव्य के रूप में साकारता प्राप्त की है उसके प्रति वे नतमस्तक ही रहे हैं। पर महादेवी ने छायावाद की मौलिक त्रुटि की ओर निर्देश किया है। आज के कवियों से भी उनकी यही शिकायत है कि उन्होंने जीवन को उसके सक्रिय संवेदन के साथ स्वीकार न करके उसको एक विशेष बौद्धिक दृष्टिकोण से छू भर दिया है और उन्होंने ललकारा है कि वे "अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़ कर, अपनी सम्पूर्ण संवेदन शक्ति के साथ जीवन में घुल-मिल जावें।"

हम इतना ही जानते हैं कि भरतप्रणीत नाट्य-शास्त्र में उस नींव का वर्णन है जिसके आधार पर सारा संस्कृत नाट्य साहित्य का प्रासाद खड़ा है। और उस नींव की ईंट है सामाजिकता जिसमें सामाजिकता नहीं उसमें नाटकीयता नहीं। अंकगणित के चिन्हों के सहारे कहें तो सामाजिकता–नाटक = ० अर्थात् नाटक से यदि सामाजिकता निकाल ली जाय तो उसमें सारतत्व कुछ नहीं रह जाता।

अब हम कुछ संस्कृत नाटकों को लेते हैं और उनमें वर्णित सामाजिक पृष्ठ-भूमि का विवरण उपस्थित करते हैं। यहां पर मैं पहले ही सावधान कर दूं कि किसी रचनात्मक साहित्य का उद्देश्य समाज का वर्णन करना नहीं होता। उद्देश होता है आत्मदान करना, अपने हृदय का मथन कर अमृत बांटना। पर चूं कि आत्मा की स्थिति भी शरीर में होती है जो पुनः देश तथा काल की मिट्टी से बनता है अतः देश और काल अर्थात् सामाजिकता भी उसके लगी चली आती है। नैयायिकों की शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि सामाजिकता नाटक के लिये आरादुपकारक हो सकती है सकृन्दोपकारक नहीं। और इसी रूप में हमें उसे ग्रहण करना चाहिए।

संस्कृत साहित्य के सब से प्राचीन नाटककार अश्वघोष हैं। कनिष्क के समकालीन होने के कारण इनका समय १०० ई०श० बताया जाता है। मध्य एशिया के तुरफान नामक प्रदेश में ताडपत्रों पर इनके लिखे तीन नाटक खंड प्राप्त हुए थे जिनकी प्रतिलिपि ल्युडर्स ने बड़े परिश्रम से तैयार की थी। प्रथम का नाम शारिपुत्र प्रकरण है जिसमें शारिपुत्र और मौद्गलायन के बुद्ध धर्म में दीक्षित होने की कथा है। दूसरा गीति नाट्य है जिसमें कीर्ति, धृति, बुद्धि पात्र के रूप उपस्थित हैं। तीसरा शायद एक सामाजिक नाटक मृच्छकटिक की तरह है जिसमें एक विलास,लोलुप सोमदत्त तथा उसकी वेश्या प्रेमिका मगधवती की कथा है। ये तीनों नाटक खंडित हैं। अतः इनके बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि खृष्टीय शताब्दी के प्रारम्भ से पूर्व ही संस्कृत नाटकों की रचना होने लगी होगी। और तृतीय नाटक की कथा से ही स्पष्ट है कि इसमें सामाजिकता का भी पूर्ण मात्रा में सन्निवेश रहा होगा।

संस्कृत के दूसरे नाटककार भास हैं। १९१२ के पूर्व हम इनका नाम भर ही जानते थे पर जब से प० गणपति शास्त्री ने भास लिखित १३ नाटकों

का पता लगाया और त्रिवेन्द्रम पुस्तक माला में इनका प्रकाशन कराया तब से इनका अध्ययन हुआ है और विद्वानों के बीच इन्हें लेकर कम मत-भेद भी नहीं है। तिथि ही के बारे में लीजिये न। ये नाटक ईसा पूर्व पांचवी शताब्दी से लेकर इसा के पश्चात् ११ वीं शताब्दी तक कहीं भी रखे जा सकते हैं। हमें इससे कुछ मतलब नहीं। हम इतना ही जानते हैं कि अश्व घोष और कालिदास के बीच भास के नाटक रचे गये होंगे अर्थात् २ री व ३ शताब्दी के आस पास। इनके नाटकों की सामाजिक पृष्ठ भूमि की तुलना जब अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से प्राप्त तत्कालीन सामाजिक अवस्था के ज्ञान से करते हैं तो हमारा विश्वास दृढ हो जाता है। आइये, भास के नाटकों की सामाजिक पृष्ठभूमि देखे।

(१) इन नाटकों में वर्णित सामाजिक संगठन में जटिलता नहीं है, समाज सीधा सादा और आदिम ढंग का है। परिवार समाज की इकाई है और इसके प्रति हर तरह से वफादार रहना सर्वोपरि कर्तव्य समझा जाता है। इन नाटको से अनेक उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं जहां पात्रों ने परिवार के प्रति प्रगाढ श्रद्धा के भाव प्रगट किये हैं। "अभिषेक" में बालि अपनी मरण-शय्या से भी सुग्रीव को यही कहता कि "विमुच्य रोषं, परगृह्य धर्मकुल-प्रवालं, प्रगृह्यतां नः। अर्थात क्रोध को छोडो, धर्मानुसार कुल की परम्परा पालन करो। उसी नाटक में सीता कहती है कि "ईश्वराः आत्मानः कुलस-दृशेन चारित्र्येण यदि अहमनुसरामि आर्यपुत्रम् आर्य-पुत्रस्य विजयो भवतु।"

(२) परिवार के व्यक्तियों में समान-शील-रूपता की चर्चा पद पद पर की जाती है। परिवार के व्यक्तियों के रूप सादृश्य का उदाहरण लीजिये। 'प्रतिमा' नाटक के चतुर्थ अंक में सीता भरत से मिलने के लिये आगे बढती है पर भरत और राम दोनों भाईयों में रूप-सादृश्य की मात्रा इतनी है कि वह उन्हें राम ही समझ लेती है। इस तरह रूप-सादृश्य और स्वर-सादृश्य-जन्य भ्रम के उदाहरणो से भास के सभी नाटक भरे पड़े हैं।

(३) इसी के साथ समाज में नारियों के स्थान का भी प्रश्न लगा हुआ है। ऐसा लगता है कि उस समय भी इसी भावना का प्राबल्य था कि "न स्त्री स्वातन्त्र्यमहर्ति।" उसके चारित्र्य का मापदण्ड कडा होता था। 'अभिषेक' नाटक में एक स्थान पर कहा गया है कि नारी का अचारित्र्य दोनों कुलों को ले

शर्वलिक ने जिस हल्के फुल्के ढग से तथा मजाक के तौर हर यज्ञोपवीत के सम्बन्ध मे बातें कही उसका दूसरा अर्थ हो ही क्या सकता है। वह कहता है कि–

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गम्
एतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान्
उद्घाटन भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीट भुजगैः परिवेष्टनञ्च ।

अर्थात् यज्ञोपवीत बड़े गाढ़े मौके पर काम आता है। सेंध मारने के समय कितनी भीति काटी जाय इसके नापने का काम लिया जाता है। किसी के हाथ में गहने हो तो इस के सहारे उन्हें निकाल कर भागा जा सकता है, कहीं किवाड जकड गई हो ते इसके सहारे खोल ली जा सकती है, कहीं साप काटले तो उस अग के परवेष्टन के काम में भी यह आता है। भला आप ही कहिये "यज्ञोपवीत परम पवित्र" की यह छीछालेदर !! हा, ब्राह्मणों की की प्रतिष्ठा अब भी थी। ब्राह्मण भी व्यापार करते थे। चारुदत्त ब्राह्मण ही था पर उसके पूर्वज तथा उसने भी व्यापार के द्वारा अनन्त धन राशि उपार्जित की थी। कायस्थ लोग आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे। सेठ लोग वैश्य थे जो व्यापार करते थे, व्यापारिक ज्ञान उनका उच्च कोटि का था और वे लोग न्यायाधीशों को व्यापारिक मामलों की छानबीन मे सहायता देते थे। चारुदत्त ब्राह्मण होने पर भी वसतसेना को वधू के रूप मे स्वीकार कर लेता है। अत अनुमान करना गलत न होगा कि अन्तर्जातीय विवाह की प्रथा प्रचलित थी। आर्थिक दृष्टि से समाज दो दलों में विभक्त हो चला था। एक पूंजीपति वर्ग था जो अपनी सनक के लिये रुपयों को पानी की तरह बहा सकता था, जो स्वर्गीय महलों मे निवास करता था जिनके बच्चे सोने के खिलौनों से खेलते थे पर दूसरी ओर ऐसे लोग भी थे जो अपना ऋण भी नहीं चुका सकते थे। जुआ का खेल आम तौर से प्रचलित था। दासत्व की प्रथा थी। मूल्य के द्वारा दास खरीद तथा बेचे भी जा सकते थे। सरकार की ओर से न्याय की व्यवस्था भी थी पर वहा हर तरह की धाधली चल सकती थी। बुद्ध धर्म का ह्रास हो चला था और कभी कभी बुद्ध भिक्षुओं को कठिनाई का सामना करना पड़ता था। पर कुछ लोगों में अब भी उसका आदर था और लोगो के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के उदाहरण भी मिलते थे। लोगों मे ज्योतिष शास्त्र के शुभ अशुभ पर भी विश्वास

था राज्य में क्रान्ति करना सहज बात थी। किसी राजा को हटा कर स्वयं राजा बन जाना इतना ही सहज था जितना कि आज दिन रेल के तीसरे दर्जे में किसी दबंग के लिये सीधे सादे यात्री की जगह पर दखल कर लेना। समाज के प्रायः सब पहलुओं पर प्रकाश डालने की दृष्टि से संस्कृत नाटक साहित्य के इतिहास में मृच्छकटिक का स्थान अद्वितीय है।

मृच्छकटिक के बाद विशाखदत्त का मुद्राराक्षस तथा भवभूति के नाटकों के नाम ही उल्लेखनीय रह जाते हैं। परन्तु मुद्राराक्षस तो एक विशुद्ध राजनैतिक नाटक है और उसमें चाणक्य और राक्षस जैसी दो महान प्रतिभाओं की बौद्धिक लड़ाई की कथा है। भवभूति का कवि नाटककार से अधिक प्रबल है, हिन्दी में ठीक प्रसाद की तरह। अतः इन दोनों नाटकों में कोई विशेष सामाजिक पृष्ठभूमि की आशा नहीं की जा सकती। भवभूति के बाद तो नाटक में ही नहीं संस्कृत साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में ह्रास का युग शुरू होता है जिसमें हृदय की वास्तविक प्रेरणा, अनुभूति की अभिव्यक्ति पीछे छूट जाती है। कुछ बने बनाये नियमों का शुष्क अनुवर्त्तन ही प्रधान हो जाता है। अतः उनमें समाज का प्रतिबिम्ब को ढूंढना व्यर्थ है। सच्ची बात तो यह है कि क्लासिकल संस्कृत नाटक ने कभी भी वास्तविक जीवन का नहीं बल्कि जीवनोत्कर्ष को अपना आधार बनाया है। नाटक सदा समाज के एक विशिष्ट अंग का ही प्रतिनिधित्व करते रहे हैं, शायद ही कभी ऊंचे स्तर से उतर सामान्य सतह पर उन्होंने विचरण करने का प्रयत्न किया हो। नाटक और सामाजिक जीवन में सदा ही पार्थक्य बना रहा और जब नाटकीय उत्साह जरा भी मंद पड़ा कि यह पार्थक्य और भी बढ़ गया। जनता का रंग मंच नहीं था। अतः इस पार्थक्य की अभिवृद्धि पर नियन्त्रण नहीं हो सकता था। जनता का कोई नाटककार था ही नहीं। भास, कालिदास जैसे प्रथम खेवे के नाटककारों की भी सीमा थी। पर इसके बावजूद भी उनकी परख ने उन्हें सामाजिक जीवन से सर्वथा अवछिन्न होने से रोका और उनके द्वारा सच्चे जीवन की नाटक की रचना हो सकी। कालिदास भले ही मन में सोचते हों कि उनके नाटक अभिरूप भूयिष्ठ परिषद के लिये हों पर वे जन साधारण के नहीं हों सो बात नहीं। पर पिछले खेवे के नाटककारों ने जनता के लिये नाटक लिखने का दावा किया तो है। पर वे सफल नहीं हो सके हैं। ऊपर कह आया हूं कि नाटककार के विविध रूपों में प्रकरण ऐसा ही

था। बाद मे भी [illegible] गये हैं जैसे उद्दंडी का मल्लिका मारुत, रामचन्द्र का मल्लिका मकरन्द, रोहिणीमृगांक, कौमुदीमित्रानन्द। पर सब निर्जीव हैं, भवभूति के मालती माधव के अनुकरण मात्र हैं।

आधुनिक काव्य

कविता की प्रगति के इतिहासावलोकन से यह स्पष्ट है कि उसका प्रयत्न अपने को अधिक से अधिक प्रेषणीय बनाना रहा है। वह सदा चाहती यही रही है कि वह अपने युग के भावों को मुखरित कर सके, उनको यथार्थ वाणी दे सके। परन्तु प्राचीन काल में कविता में स्पष्टता की समस्या उतनी कठिन नहीं थी। कुछ छंद नियत थे, कुछ विषय तथा तदनुरूप शब्दावली की सत्ता वर्तमान थी जिनको काव्यात्मक मान लिया गया था। उनके सहारे कविता की रचना कर कवि बन जाना सहज संभाव्य था, क्योंकि विषय, तदनुरूप छंद तथा तद्भारवाहिनी शब्दावली इत्यादि सब ही काव्यमय थे। पाठक पहले से ही उनके प्रति कलात्मक ढंग से प्रति-क्रिया करने के लिए तैयार रहता था। ऐसी परिस्थिति में कवि-कर्म उतना कठिन नहीं था। कवि तथा किसी कलाकार की सब से कठिन समस्या और प्रश्न यही है कि वह किस तरह पाठकों को आकर्षित करें, अपनी रचना के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न करे तथा उनमें अपने काव्य के प्रति संवेदनशील एवं ग्रहणशील मनोवृत्ति जिसे अंग्रेजी में कहते है receptive mood जागृत करे। यदि इतनी बात सध गई तो उसकी आधी लडाई फतह हो गई। और यह आधी लडाई कवि के लिए पहले से ही जीती जीताई रहती थी।

मैं लडकपन में एक खेल खेला करता था और आज भी कभी कभी अपने बच्चों के साथ खेलता हूँ। किसी बच्चे को बुलाकर कहता था। सुनो, सुनो। इतना भात खईब (कितना भात खाओगे ?) "हां"। "राम जी की बकरी चरईबि (रामजी की बकरी चराओगे) वह कहता हां। रामजी मरि हें तनानूं डेरइअब ? (रामजी मारेंगे तो नहीं डरोगे नहीं न ? 'नहीं'। तब तक मैं उसको

आखों के सामने थपडी मार देता था और उसकी आखें डर से मिच जाती थीं। और मैं उसे चिढ़ाने लगता। देखो डर तो गये। यही बडी निडरता की डींग हाकते थे! तब से ऐसा हो जाता था कि ज्योंहि उस बालक को या उसके साथियों को बुला कर कहता कि इतना भात खाओगे त्योंही उस बालक की आखें मिचने लगती थी अथवा वह उन्हें मींचने लगता था। आज की मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहेंगे कि वह इस तरह की प्रतिक्रिया करने के लिए conditioned हो गया था। यही दशा हमारे कविता पाठकों की थी। वे एक तरह के बने बनाये (Conditiond) पाठक थे। उनके मस्तिष्क में काव्य-परिभाषा निश्चित थी, उसकी शृखला की सब कडियों से वे सब परिचित थे, एक कडी के स्पर्श से सारी शृखला झकृत हो जाती थी, सारे सस्कार जग जाते थे और पाठक काव्यात्मक ढग से प्रति-क्रिया करने लगता था। ठीक उसी तरह जिस तरह पावलक के कुत्ते की ग्रन्थियों से कुडी की खटक सुनते ही लार श्रवण होने लगता है। नहीं तो आज बीस वर्ष पहले दिनकर के "हिमालय" नामक कविता पर जनता पागल हो जाती थी उसका रहस्य सिवा इसके समझ में नहीं आता कि उस कविता में कुछ भाव प्रवण शब्दों का प्रयोग था और भारतीय इतिहास के युगपुरुषों का नाम लिया भर गया था। यही काम भारतेन्दु ने किया था और "घटोहिया" के प्रसिद्ध गायक रघुवीर शरण जी ने भी यही किया था।

अत कवित्व की प्रतिभा के बीज के अभाव में भी कोई कवि नियमों का अनुवर्तन कर कविता की रचना कर सकता था। अर्थात् कविता करते समय काव्यकार की दृष्टि नियमों पर केन्द्रित रहती थी जिनका जादू समझा जाता था, पाठकों के सर पर चढकर बोलेगा ही और उनमें काव्यात्मक अनुभूति जगे बिना नहीं रह सकती। पर शिक्षा के प्रचार और गणतन्त्र के प्रसार के साथ परिस्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ। कविता अब लिखी जाने लगी जनता को ध्यान में रखकर। लक्ष्य यह हो गया कि नियमों का पालन हो जाय, ठीक है नहीं तो नियमों के उल्लघन के लाछन से भी कविता नहीं कतरायेगी यदि वह जनता को अपने साथ ले सके तो। साधारण जनता की सहज बुद्धि के लिए ग्राह्य होना ही कविता की स्पष्टता और सार्थकता मानी जाने लगी। कवि अपने सिंहासन से च्युत कर दिया गया, और जनता उस स्थान पर प्रतिष्ठित हो गई। अपने अधिकारों के लिए कवि के इस सघर्ष के इतिहास को स्पष्टता पूर्वक हिन्दी साहित्य में हम नहीं देख सकते। हिन्दी साहित्य सम्पूर्ण अग्रेजी साहित्य का उत्तराधिकारी रहा है अत वह बडी तेजी से

अपनी मंजिल को पार करता गया है। अतः प्रत्येक आन्दोलन की विशेषता ओं को यहाँ विस्तारपूर्वक देखना सम्भव नहीं हो सकेगा। आज हिन्दी साहित्य, अपने छोटे पैमाने पर ही सही, उन समस्याओं से जूझ रहा है जो अंग्रेजी साहित्य के सामने हैं और उसे प्रभावित कर रही हैं। अंग्रेजी में E. E. Cummings, yeats, T. S. Elliot, Sitwell इत्यादि ने जिस आधुनिक काव्य का सूत्रपात किया है उस तरह का काव्य आज हिन्दी में भी पर्याप्त रूप से लिखा जा रहा है।

आज की आधुनिक कविता में विद्रोह के भाव हैं, उन्नीसवी शताब्दी के काव्य के विरुद्ध उसमें विद्रोह के भाव हैं। परन्तु काव्य में स्पष्टता के विरूद्ध नहीं। यह विरोध करती है तो इस बात का कि काव्य सम्बन्धी नियमों को बतलाने वाला कवि न होकर जनता क्यों होने लगी। अतः आधुनिक अंग्रेजी कवियों के अन्दर अठारहवीं शताब्दी के साथ अधिक सहानुभूति के भाव पाये जाते हैं जबकि काव्य नियमों का निर्माता कवि था, पोप थे, ड्रायडन थे। आज के तथाकथित शिक्षित बृहद पाठक समुदाय और कवि में काव्य-गत स्पष्टता और प्रसादिकता को लेकर झगडा नहीं है। दोनों चाहते हैं कि काव्य की अभिव्यक्ति स्पष्ट हो, खडी हो, समर्थ हो। पर प्रश्न यह है कि स्पष्टता का अर्थ क्या ? बहु संख्यक साधारण पाठक यह चाहता है कि वही कविता स्पष्ट है जो पढ़ते ही समझ में आ जावे, मस्तिष्क पर जरा भी जोर देना न पड़े पर आधुनिक कवि की मान्यता है कि काव्य में स्पष्टता सस्तीचीज नहीं है। आधुनिक कवि का मस्तिष्क जिस सूक्ष्मता को पकड सकता है, उसकी विधायक कल्पना स्पष्टता को जिस आलोक में देख सकती है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए साधारण भाषा से काम नही चल सकता, उसके लिए अधिक अभिव्यंजक भाषा, अधिक समर्थ पदावली-अधिक ताजे स्फूर्त तथा समर्थ शब्दों की आवश्यकता है। परन्तु कविताओं के जन-साधारण पाठकों का मस्तिष्क पीटी लकीर पर चलने और सीधे साधे रूप में सोचने का इस तरह अभ्यस्त हो जाता है कि उसमें ऊपर उठ कर या इधर उधर आंखे दौडा कर देखने की क्षमता जाती रहती हैं। उसने अपनी नाक टटोली, देखा वह अपने स्थान पर मौजूद है बस चलो ठीक है। आज का कवि इस स्थिति से असन्तुष्ट है। वह सब जगह पराजित हो, अपमानित हो यह वह सह लेगा परन्तु वह कभी गंवारा नहीं कर सकता कि वह अपने ही घर में इस तरह अपदस्थ हो कर रहे। वह आज तक यही करता आया है कि अपनी दिव्य

वाणी द्वारा लोगों के हृदय में स्फूर्ति का सचार करे, अपनी लौ से लोगों के हृदय की सोई लौ को जगाये अर्थात् वह स्वय कवि है तो अपना प्रसाद बाट कर लोगों को भी कवि बनावे ताकि वे उसके दिव्य प्रसाद के स्वाद का कुछ रसोपभोग कर सकें। वे साधारण सतह से ऊपर उठ कर कुछ हद तक कालिदास, शैक्सपियर और पोप बन सकें। पर जब वह देखता है कि तख्ता ही उलट गया है, जनता डिक्टेटर बन बैठी है और कवि को उच्च शिखर से उतार कर धूल मे लोटने के लिए हिदायत दे रही है तो उसके हृदय में भयकर विद्रोह के भाव उमडते हैं और यही उमडन आधुनिक काव्य का रूप धारण करता है। कवि सोचता है कि यदि उसे अपने प्रति सच्चा रहना है, अर्थात् कविता के सम्बन्ध में जो उसके भाव या विचार हैं उन पर दृढ रहना है और कविता को सकट में नहीं छोड देना है, पाठक समुदाय की खाम ख्यालियों पर छोड़ देकर सस्ते मनोरजन मात्र की वस्तु होने से बचाना है तो उसके काव्य को ज्ञान-लवविदुर्दग्ध पाठक अस्पष्ट कह दें इतने डर से अपने मार्ग से विचलित नहीं होना है। कविता के साधारण पाठक भले ही कह दें कि जो कुछ कह वह लिख रहा है काव्य नहीं पर इतने से निरुत्साहित होकर होकर वह अपने उद्देश से उसे डिगना नहीं। डिमोक्रेसी, गणतन्त्र राजनीति का शब्द है। वह यदि देश के शासन क्षेत्र तक अपने को सीमित रखे, ठीक है परन्तु जब वह काव्य के आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रविष्ट हो मतदान (वोटों) की सख्या के बल पर अपनी सत्ता का निर्धोप करेगी तब उसको प्रबल विरोध का सामना करना पड़ेगा ही। आज कविता यही कर रही है।

कविता आज जो कुछ कर रही है, परिस्थितियों को देखते हुए हम उसको अस्वाभाविक कह भी नही सकते। जगत में जितने व्यापार होते हैं, जितनी क्रियायें या आन्दोलन होते रहते हैं, समुद्र पर तरगें उठती है, वायु बहती रहती है, घटायें उठती हैं, अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, कभी कभी कोमल पुष्प भी वज्र से कठिन हो जाता है इसके मूल में कौन सी शक्ति काम कर रही है? उत्तर है जीवन शक्ति। जीवन ही विविध रूप में अपने स्वरूप को प्रगटित करना चाहता है। शान्ति पूर्वक यह कार्य सम्पन्न हो ठीक है नहीं तो लड कर और झगड कर भी। हिन्दी के एक बडे ही प्रसिद्ध साहित्यिक से मैंने एक दिन पूछा कि आपने इधर इस थोडी सी अवधि में ही इतनी पुस्तकें कैसे लिख डालीं तो उन्होंने उत्तर दिया कि बस और कुछ नहीं। मैं मृत्यु से बचना चाहता हूँ। मरना नहीं चाहता।" कविता भी शायद

यही कर रही है। वह निःशक्त हाथों पड कर घिसे पीटे छन्द और खोखले शब्दों के जाल में आवद्ध हो निश्शक्त हो चली है। "शायरी मर चुकी जिन्दा न होगी यारों" एक ओर से तो यह सदा आती है, दूसरी ओर से यह कि "और कुछ चाहिए वसयत मेरी बयां के लिए।"

कविता की स्पष्टता के नाम पर यह दावा पेश किया जाता है कि उसे जन साधारण की सामान्य बुद्धि के लिए सुग्राह्य होना चाहिए। परन्तु हमें भूलना नहीं चाहिए कि जिसे सामान्य बुद्धि कहा जाता है वह चेतना की सब से कम क्रियाशील स्तर है, यह वह स्तर है जहाँ मनुष्य न्यूनातिन्यून रूप में जागृत रहता है। इसको लेकर कविता का स्वागत करना और इसी स्तर पर उसे स्थापित करना कविता का अपमान करना है। कविता हम से अधिक जागरूकता और कल्पना-तत्परत्व की मांग करती है। वह चाहती है कि उसके सम्पर्क में आने के समय पाठक मिट्टी का लोंदा मात्र न होकर एक सजीव प्राणी की तरह प्रयत्नशील हो। पाठक एक दुर्ललित वालक है जिसकी प्रत्येक उल्टी सीधी इच्छा की पूर्ति कर उसे हमने आलसी और जड बना दिया है। ऐसी सूरत में अपनी कविता के स्वरूप को वनाये रखने के लिए तथा उसके प्रति न्याय किये जाने के लिए कवि कुछ असाधारण उपयों से काम लेता है तो यह दांतव्य है।

कविता को आज किसी नई परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा हो सो बात नहीं। जिन कवियों की प्रतिष्ठा आज सर्वमान्य है और जिनकी कवितायें आज काव्य के चरम आदर्श के रूप में स्वीकृत की जाती हैं उनको भी अपने ही अधिकारों के लिए कम लड़ना नहीं पडा है। कहा जाता है कि जब वर्डस्वर्थ और कालरिज की प्रतिभा अपने सर्वोत्तम काव्य की सृष्टि कर रही थी उस समव साधारण पाठक Shestone तथा Mickle जैसे कवियों की चलती पर निष्प्राण कविताएं पढ़ने में व्यस्त था। पर आज इन कवियों का नाम कितनों को मालूम है। जब कीट्स और शेली का काव्य चरमोत्कर्ष पर था लोग Thomas Moore और Samuel Rogers के काव्य पर लट्टू थे, जब उन्हे Tennyson को पढ़ना चाहिए था वे पढ़ रहे थे Mrs hemans को तथा Martin Tupper को। जब उन्हे Whitman को पढ़ना चाहिए था तो उन्हे Montogo Nemary और Tennyson के काव्य के पढ़ने से फुरसतनहीं मिलती थी। यही क्रम आज तक चला आ रहा है। आधुनिक काव्य

प्रगति के साथ पैर में पैर मिलाकर चलने का दावा करने वाला तथा अपने को प्रबुद्ध समझने वाला पाठक भी 'अचल' की कविता को पढ़ेगा, उस कविता को जिसका जरा जरा घुन पिट गया है, तार तार उड़ गया है पर अज्ञेय की खड़ी, ताजी और गर्म कविता को नहीं पढ़ेगा।

कविता का इतिहास इसी संघर्ष का इतिहास रहा है। साधारण पाठक वहां अपनी सत्ता जमाना चाहता है और कवि उसे अपना सुरक्षित क्षेत्र समझता है। आज कवि अपदस्त है, वह अपनी सत्ता को पुन: प्रतिष्ठित करना चाहता है। अत: उसमें त्वरा है, असन्तोष है, साधन के औचित्य या अनौचित्य का उसे ध्यान नहीं। बस उसे ध्यान है तो केवल यही कि येन केन प्रकारेण अपना खोया सिंहासन प्राप्त किया जावे।

आज की कविता का रूप वह है जिसे अंग्रेजीमें protean कहा जाता है, यह कभी भी कोई रूप धारण कर सकती है। विषय निर्वाचन पर यह कोई भी प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती, भावाभिव्यक्ति तथा वाक्य योजना में व्याकरण के नियम इसे मान्य नहीं, शैली की कोई परवाह नहीं। जब जैसी हो सकती है। इसका महत्व इसमें है कि कविता को एक नई दिशा की ओर मोड़ रही है और यह दिखला रही है कि परिपाटी विहित और परम्परा समर्थित काव्य धारा को बिना बिलगाड में परिवर्तित किये हुए ही उसके साथ कहाँ तक स्वतन्त्रता ली जा सकती है।

बिहारी की नायिका का चित्र खींचने के लिए कितने ही चित्रकारों ने "गहि गहि गरब गरूर" अपनी तूलिका उठाई पर उनको अपने मुँह की ही खानी पड़ी। उसी तरह मैं यहाँ कविता की परिभाषा देने का प्रयत्न कर अपने को बिहारी के चित्रकारों की तरह हास्यास्पद नहीं बनाऊ गा। पर एक काम तो कर ही ले सकता हूँ। कविता को दो श्रेणियों में विभाजित कर ले सकता हूँ। लोक प्रिय तथा विशिष्ट-जनआदृत। पहली श्रेणी में परिगणित कवितायें अधिकाधिक जनता में पहुचने में समर्थ होगी, उनका अधिक प्रचार होगा और वे लोगों का हृदयानुरंजन भी करेंगी। दूसरी श्रेणी की कवितायें कुछ विशिष्ट चेतन पाठक तक ही सीमित रहेगी। लोग जल्दी से उसके मर्म को ग्रहण नहीं कर सकेंगे। प्रथम श्रेणी की कविता एक हद तक अच्छी भी हो सकती है। यह कोई आवश्यक नहीं कि वह महज कूड़ा और करकट ही हो, पर साथ में यह भी सत्य है कि वह काव्य की अनन्य महनीयता को प्राप्त

नहीं हो सकती, उस ऊंचाई या गहराई को नहीं पा सकती जो काव्य की महानता का द्योतक है। यह आशंका कि वह काव्य के अक्षुण्ण गौरव का अधिकारी नहीं हो सकती तब और भी बढ जाती है जब वह decadence के युग में लिखी गई हो। डिकेडेन्स से हमारा मतलब है वह युग जिसमें सृजन भावों की अदम्य प्रेरणा, अभिव्यक्ति के अन्तरिक आवेश की मांग के उत्तर के रूपमें न होकर भाषा और भाव के अनुकरण के कारण होता हो। अति प्राचीन काल की बात छोडिये। हमने अपने सामने ही हिन्दी काव्य के कम से कम दो युग देखे हैं। छायावाद और प्रगतिवाद। क्या कारण है कि महादेवी वर्मा, पंत इत्यादि जब आज भी छायावादी कवितायें लिखते हैं तो उनमें एक सजीवता होती है। पर उनके अनुकरण करने वाले, उन्ही भावों और भाषा का प्रयोग करने वाले अनेक कवि नीरस और निष्प्राण मालूम पडते हैं। कारण यही है कि वे सच्चाई से कतराते हैं, उसमें वह सूक्ष्मता नहीं-बुद्धि की, भाव की, भाषा और छन्द की-जो काव्य की महत्ता के तत्व हैं। उनमें भाव सीधे और सस्ते हैं, तुरन्त ग्रहण किये जा सकने वाले हैं और वैसी ही भाषा में अभिव्यक्त किये गये हैं जो कि अनावश्यक रूप में फुलाई गई है। हिन्दी में 'अंचल' जी का काव्य ऐसा ही है। इससे काव्य का कुछ काम चल भी जाता हो, वह लोगों की समझ आ भी जाता हो पर वह कभी भी उच्च गौरव की महिमा से मण्डित नहीं हो सकता।

अस्पष्टता, दुर्बोधता तथा अनधिगम्यता का लांछन केवल आधुनिक काव्य के सर पर ही मढा जाता हो ऐसी बात नहीं है। यह तो आधुनिक कला के प्रत्येक क्षेत्र के लिए कहा जाता है। आधुनिक चित्र-कला तथा संगीत-कला भी कम दुरूह तथा दुर्बोध नहीं समझी जा सकती। वास्तव में सही बात तो यह है कि कला सदा ऊपर से नीचे की ओर फैलती रहती है। पहले उसने कुछ थोडे से संवेदनशील और जागृत मनुष्य के हृदय में स्थान किया है बादमें वह जनसाधारण के बीच पहुंच कर वहाँ आदरणीय हुई है। नदी पहले उच्चस्थानीय शैल शिखरों पर अपनी स्थिति की प्रतिष्ठा कर लेती है, वहाँ कुछ दिनों तक पर्याप्त शक्ति संचय कर लेने के बाद ही साधारण मैदानों को परिप्लावित करती है। पर आज यह क्रम उलट गया सा प्रतीत होता है। आज कविता नीचे से ऊपर उठना चाह रही है केवल संख्या के बल पर, मात्र इसी शक्ति के सहारे कि जन-बल उसके साथ है। यह सस्ती प्रजातन्त्रवादिता का विजृम्भण है जहाँ वोटों के बल पर चलाते नारों के बल पर, सस्ती भावुकता

के बल पर, लोगों का ध्यान आकर्षित कर कहीं अधिक योग्य पात्र को हटा कर उसके बदले में एक मूर्ख को भी जिता दिया जाता है। राजनैतिक क्षेत्र में भी ऐसी धाधली बहुत दिनों तक नहीं चल सकती पर काव्य के क्षेत्र में तो न तो यह सम्भव ही है और न यह चल ही सकती है।

कला को, कविता को अपने अधिकारों के लिए, अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए घोर साधना करनी पड़ी है, न्यस्त स्वार्थों ने उसका प्रबल विरोध किया है, उसे चप्पे चप्पे जमीन के लिए संघर्ष करना पड़ा है। कहीं कहीं तो उसे अपने सहयोगियों, समान धर्मी जागरूक कलाकारों के हाथों भी लांछित होना पड़ता है। आन्द्रा जीद जैसे क्रान्तिकारी और आधुनिक कलाविद् को कौन नहीं जानता? पर इन्होंने जब प्रथम प्रथम प्रुस्ट के उपन्यास को देखा तो पढ़ कर फेंक दिया। ले हन्ट तथा वर्ड्सवर्थ जैसे कवियों तक ने ब्लेक को पागल कहा। परन्तु यह तथा-कथित पागल की भविष्यवाणी थी 'Every great and original writer, in proportion as he is great and original must himself create the taste by whch he is to be judged" अर्थात् प्रत्येक महान् और मौलिक लेखक जिस अनुपात में वह मौलिक तथा महान् है अपनी कला के महत्व को समझने वाली अभिरुचि का निर्माण करता है।

आज की कविता और कवि इसी नई अभिरुचि, नई जागरूकता, नये मापदण्ड, नूतन अभिलाषा और आकांक्षा का निर्माण कर रहे हैं। वे स्वाद रहित निष्प्राण, गड्डलिकाप्रवाह में चलने वाली कविता का कायाकल्प कर रहे हैं। यह बात दूसरी है कि इसी प्रक्रिया में कहीं कहीं ऐसा लगे कि कहीं उसकी हत्या न हो जाय। परन्तु अब तो जीवन और मरण के प्रति भी हमारा दृष्टिकोण बदल रहा है न। जिस तरह आइन्स्टाईन की सापेक्षता सम्बन्धी सिद्धान्त ने समय के प्रति हमारे दृष्टिकोण को परिवर्तित कर दिया है उसी तरह मृत्यु के प्रति भी हमारा दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया है। मृत्यु जीवन का वह रूप है जो हमारी नजरों में ओझल है, और वह आज जिस तरह भविष्य की चीज है उसी तरह वर्तमान की भी हो सकती है। अत आज का पाठक आधुनिक कविता को देखकर उसकी मृत्यु की आशंका करता है वह उसका नूतन जीवन आरम्भ भी हो सकता है।

कविता आज तक चार युगों को पार कर चुकी है। प्रथमतः, संगीतमयी थी, संगीत का ही अंग थी। बादमें संगीत से पृथक होने का प्रयत्न करने लगी पर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र न हो सकी और गाकर पढ़ी जाने लगी। तीसरी अवस्था में संगीत से वह स्वतन्त्र हो गई पर अब भी जोर से पढ़ने की चीज समझी जाती थी। और आज वह मौन पठन की वस्तु रह गई है। और अपनी स्वतन्त्र पृथक सत्ता की घोषणा कर रही है। अतः आज के युग में कविता की एक ही कसौटी होगी। इसका निवेदन बाहरी आंख और आन्तरिक काम के प्रति अधिक होता जावेगा। पहले जब कविता संगीत से बंधी थी तो उसका लक्ष्य पाठकों के बाहरी कान और आन्तिरिक आंखों को प्रभावित करना होता था। पर आज वह संगीत से स्वतन्त्र होकर अपने लक्ष्य में भी उसने परिवर्तन कर लिया है या परिवर्तन स्वयं उसमें आ गया है। कविता जब तक जोर से पढ़ने की चीज समझी जाती रहेगी उसमें स्थूल तत्वों की प्रधानता रहेगी और उसके सूक्ष्म तत्व निखर कर सामने नहीं आ सकेंगे। कविता को अपने अन्तर्निहित शक्ति के बल खडी होने की शक्ति नहीं आयेगी। तुच्छ से तुच्छ कविता भी मधुर कण्ठस्वर से पढ़ी जाकर लोगों को प्रभावित कर सकती है और इसका इन्द्रजाल इस तरह छा जा सकता है कि लोग रेत के कण को भी गंगा की धारा समझ लें। पर आंखें बड़ी चतुर होती हैं और अन्तरिक कान के सहयोग से काम करती हैं, उन्हें चकमा देकर पुजवा लेना उतना सहज काम नहीं। अतः आधुनिक युग में कविता खरे कचंन को ही लेकर अपने आन्तरिक सूक्ष्म तत्व को लेकर ही चलेगी। आज कविता पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना चाह रही है, संगीत से, भाषा से, छन्द से यहां तक कि कवि से भी।

कविता की आलोचना में दो शब्द बहुत प्रचलित रहे हैं भाव पक्ष और कला पक्ष। इसी को शुक्ल जी ने भाव पक्ष और विभाव पक्ष कहा है। यद्यपि सभी ने इस बात को स्वीकार किया है कि वर्ण्य वस्तु (Subject matter) और रूप विधान (form) को अलग नहीं किया जा सकता, वे सिक्के दो पहलू की तरह हैं एक दूसरे के पूरक। परन्तु व्यावहारिक रूप में आलोचना ने इन दोनों को अलग करके ही देखा है। इसका परिणाम यह हुआ कि कवियों की प्रतिभा का रूप विधान को वर्ण्य वस्तु के अनुरूप ढालने में या वर्ण्य वस्तु को ही रूप विधान की नाप के सामने झुकाने में अधिक अपव्यय हुआ है। पर आधुनिक कविता अपने साथ इस खिलवाड

शीर्षक कविता देखी तो मेरी आशा निर्मूल हो गई और मन में यही हुआ कि चाहे जो हो हिन्दी के काव्य क्षेत्र में यह अराजकता कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती जो फ्रांस में प्रतीकवाद तथा पश्चात् प्रतीक वाद के युग में छा गई थी।

आदमी को चाहिये पानी,
सत्य यह आज भी जैसा,
टूटने को
परों को समेटे हुए थका-सा
सूरज ऊपर कसा कसा,
और
दिन धीवर के पाश सा मैला
फैला फैला फैला।

यह छोटी सी कविता कुछ अजीब सी भले ही मालूम पड़े और प्राचीन ढंग के पिटे पिटाये शब्द और भावों पर लुब्ध पाठक को कुछ क्षुब्ध भी करे पर यह कवि के निजी जीवन की संकेत लिपि नहीं है। फ्रांस के कवि Rimbaud के बारे में आलोचकों को कहते हुए सुना है कि उसकी कविता में किसी अर्थ का ढूंढ निकालना असम्भव है। mallarme की कविताओं में तो, उसके सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से अवगत हो जाने पर, कुछ अर्थों की सगति बैठा लेना फिर भी सम्भव है पर Rimbaud के काव्य को समझने के लिये उसके वैयक्तिक जीवन का विस्तृत ज्ञान आवश्यक है। पर हमारे कवि पाठक पर इतना बोझ नहीं देते, वे इतना आत्म-समर्पण नहीं चाहते। पाठक से थोड़े से सक्रिय सहयोग की, माग करते हैं और चाहते हैं कि पाठक उसकी बढाई हुई बांह को थोड़ा लपक कर पकड़े। आप थोड़ा ध्यान से पढ़ें और काव्य में सस्ते प्रसाद-जनित मानसिक आलस्य से ऊपर उठें तो आप को ये उद्धृत पंक्तियां स्पष्ट हो जायेगी। ये अपने ढंग पर मनुष्य के जीवन की ट्रेजिडी की कथा कह रही हैं कि मनुष्य को किस तरह संकट तथा संघर्ष से होकर अपनी नियति का पथ तय करना पड़ता है। "सुनहु पवन-सुत रहनी हमारी, जिमि दशनन मह जीभ बिचारी।" पर साधारण पाठक तुलसी की इस चौपाई को कविता कहेगा पर इस प्रपद्य प्रारूप में भी काव्यात्मक अनुभूति है ऐसा कहना उसने अभी नहीं सीखा है

दूसरी वात जिसके आधार पर आधुनिक काव्य को कोसा जाता है वह है छन्द से मुक्त कर उसे गद्य की सीमा तक पहुंचा देने की । वह भी वात मुझे इस संकलन में कही दीख पड़ी । हां, निश्चय ही इन कवियों में परिपाटी विहित तथा परम्परा मुक्त छन्द विधान के वंधन की कड़ाई का अभाव है । पर यह कहने वाला सचमुच साहसी होगा कि इस संकलन की कविताओं में गद्यात्मक वाक्यों को ही काट छांट कर मनमाने रूप से बैठा दिया गया है । इस पूरे संकलन में श्री सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की "नये वर्ष पर" नामक कविता है जिसे आप कटे कटे अंशों को समेट कर एक साथ पढ़ें तो आप नहीं कह सकेंगे कि ये गद्य नहीं हैं । "मैं गमले सौंपता हूं जिसमें वीज डाले गये हैं, अंकुर सौंपता हूं जिनकी पत्तियां निकल रही हैं, वे पौधे सौंपता हूँ जिन्होंने कलियों के मुड़ खोले हैं, वे फूल सौंपता हूँ जो रस और गंध की अंजलि भरे हुए खड़े हैं"........इत्यादि । यह तो हिन्दी गद्य के समीकृत वाक्यों अच्छा उदाहरण हो सकता है । वास्तव में भावों के तदनुरूप रूप विधान तथा शैली को प्राप्त करना, ताकि काव्य अधिक से अधिक अभिव्ययंजक हो सके, यह सदा से ही कवि का लक्ष्य रहा है । कालिदास के रघु की तरह कवि की कविता आत्मकर्मक्षमं देहं की प्राप्ति की चेष्टा सदा से करती आई है । इस सिद्धि के लिये कृत्रिम और अकृत्रिम सब तरह के उपायों से काम लिया गया है । आधुनिक काव्य में भी आत्मकर्म क्षम देह की प्राप्ति की चेष्टा की जाती है पर दृष्टि कोण में अन्तर हो गया है । पहले विषय की कच्ची सामग्री को काव्य के एक वने वनाये सांचे में ढाल दिया जाता था । आज समझा जाता है कि कविता एक बड़ी ही संवेदन शील वस्तु है जिसे रूप धारण करने के लिये स्वतंत्र छोड देना चाहिये । अपनी नैसर्गिक मांग के अनुरूप वह स्वरूप धारण कर ही लेगी । आप द्रव पदार्थ को निस्पन्द रूप से थिराने के लिये छोड़ दीजिये उसमें स्वयं Crystal वन ही जायंगे । वालू की सतह पर किसी तार को छेड दीजिये उसके प्रकम्पनों के आघात प्रतिघात के अनुरूप इर्दगिर्द वालू के ढेर जम ही जायेंगे । इस प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के लिये मुक्त छन्द एक वड़ा ही सजीव प्रयोग है । हमारे कवि काव्य के क्षेत्र में Self determination के सिद्धान्त को लागू करना चाहते हैं, वे अराजकता नहीं चाहते पर स्थानीय शासन के नियमों का आविष्कार करना चाहते हैं । हां, इतना अवश्य है कि इस वंधन मुक्ति का दुरूपयोग किया गया है । (जैसे सव नियमों का होता है) इसे आत्म नियंत्रित संतुलित स्वतंत्र्योपभोग के रूप में न लेकर उच्छृंखल मनस्विता के रूप में लिया गया है ।

पर हिन्दी यहां पर उतनी लादर्नीय नहीं है। इस संकलन के अधिकांश पद्यों में एक लय है, एक गति है। ऊपर हमने एक मुक्त छन्द का उदाहरण दिया है और कहा है कि यह गद्य की सीमा को छू रहा है और जब मैंने इसे आलोचना के लिये इसे चुना तो सचमुच कहीं न कहीं कठोर अवश्य हो गया हूं।

इसको स्वीकार करने में किसी को कुछ आपत्ति नहीं हो सकती कि हमारा साहित्य और काव्य यूरोपीय साहित्य का धारा से ही प्रेरणा ले रहा है। पर जब हम देखते हैं कि वहां के साहित्यकाश में कैसे चित्र विचित्र, मैं कहूंगा, ऊलूल जुलूल, सिद्धान्त तैर रहे हैं, शब्दों के साथ कैसे कैसे tricks खेले जा रहे हैं, शब्दों के उच्चारण और ध्वनि को भी काव्य धर्म में एक सहायक प्रधान साधन माना जाने लगा है। विरामों को हटा कर एक शरेशाम ज्वरामान्त मनुष्य के बर्राहट को ही काव्य स्वरूप माने जाने लगा है। एक ही शब्द को कामा या सेमीकोलन के द्वारा कई टुकड़ों में तोड़ा जाता है जैसे (fallin,g) या यह पंक्ति देखिये With ered unspeaking, twenty, fingers, large) तो सचमुच अपने कवियों के आत्म संयम पर आश्चर्य होता है जिन्होंने इस आंधी में भी पैर उखड़ने नहीं दिये हैं। यूरोपीय विचार धारा में कुछ ऐसा चटपटापन है और उसमें मनुष्य के मन को सहला देने की एसी क्षमता है कि यह तुरन्त इसके प्रति आकर्षित हो जाता है। हमारे कवि ने इस प्रलोभन के सामने आत्म समर्पण नहीं किया है यह उसकी सजीवता का प्रमाण है।

मैंने कहा सजीवता का प्रमाण है। यह भी हो सकता है कि यूरोपीय साहित्य की गति विधि तथा नित्य प्रति होने वाले प्रयोगों से उन्हें पूरा परिचय न हो। यदि यही बात है तो भी हमारे लिये श्रेयस्कर ही है। एक तो यह कि इस अल्प परिचय के कारण स्वभावत वहां की अतिवादिताओं से हम बचे रहे, दूसरी बात यह कि परिचय की प्रगाढ़ता, अनुभूति का विस्तार हमारे व्यक्तित्व के उस स्तर को छू ही दे जहां से सृजन आरम्भ होता है यह कोई आवश्यक नहीं। ज्ञान का बोध कभी सृजनात्मक प्रतिभा को कुंठित भी कर देता है। किसी प्रदेश की रत्ती रत्ती धूल छान कर, वहां की प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त कर जो लोग तत्सम्बन्धी उपन्यास या कविता लिखना चाहते हैं उनकी बात मेरी समझ में नहीं आती। जानकारी थोड़ी ही हो पर उसका आप सृजनात्मक या काव्यात्मक उपयोग कर सकें आवश्यकता

इतनी ही सी है। हिन्दी के कवियों का परिचय विदेशी साहित्य के प्रत्येक भावभंगियों से भले ही न हो। पर जो कुछ भी वह जानता है उसका वह सृजनात्मक उपयोग कर रहा है इसमें कोई शक नहीं।

इस संकलन में चार तरह की कवितायें दिखालाई पड़ती हैं। कुछ तो ऐसी हैं जिनमें विषय तो वही पुराना है पर हां, कवि ने उन्हें नूतन अर्थवत्ता महत्वों तथा मूल्यों से समान्वित करने की चेष्टा की है। वर्षान्त के बादल, प्राण-दर्शन, ज्योति का अभिशाप, हिलोर, गीत (२५) निवेदन, गीत (४८) आत्म परिचय इत्यादि कवितायें इसी श्रेणी में आयेंगी। कुछ कवितायें ऐसी हैं जिनमें असल ख्वाब और तर्जे अदा सब कुछ नई हैं। नये नये विषय और नई नई अभिव्यक्ति इन्हें वास्तविक अर्थ में आधुनिक कहा जा सकता है। इन कविताओं के सृजन के पीछे यह धारणा मालूम पड़ती है कि कोई भी विषय चाहे वह देखने में कितना ही नगण्य क्यों न मालूम पड़े कवि के लिये त्याज्य नहीं हो सकता। रहा गया अभिव्यक्ति का प्रश्न। यहां भी कवि किसी तरह का बंधन नहीं स्वीकृत करेगा। प्रश्न एक दम व्यावहारिक है। भले ही परम्परायुक्त छन्दोबद्ध शैली का प्रयोग न हुआ हो। देखना यही है कि काम चलता है या नहीं। इसके द्वारा जो अनुभूति प्रेषणीय है वह काव्यात्मक कही जा सकती है या नहीं। इस श्रेणी में संक्रमण, बम्बई की शाम, गोता खोर, गीत (११) प्रपद्य-प्रारूप, ढाक बनी, उद्जन बम्ब के परीक्षण पर, गोरे गुलाबी नाखून से, नये वर्ष पर इत्यादि कवितायें आयेंगी। तीसरी श्रेणी में वे कवितायें है जिन्हें अति नूतन तो बनाने का प्रयत्न किया गया है पर वे कुछ बन नहीं सकी हैं, विनायकं कुर्वाणः, रचयामास वानरम् का उदाहरण बन कर रह गया है। जैसे माली का छोकरा।

कुछ कवितायें है जिनमें इमेजिस्ट (Imagist) तथा सिम्बोलिस्ट Symbolist सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट है। Image वैसे क्या है, यह समझ लेना चाहिये। १६०५ के लगभग अंग्रेजी साहित्य में इमेजिस्ट कवियों का सम्प्रदाय कायम हुआ, और इनकी ओर से अनेक विज्ञप्तियां निकलीं, अनेक काव्य संग्रह के प्रकाशित हुए और १६११ में (Some Imagist Poets) नामक एक काव्य संग्रह के प्रकाशन के साथ इनका अन्त भी हुआ। इनकी विचार प्रणाली की पूरी तालिका देना यहां सम्भव नहीं। इन लोगों का विश्वास था कि कविता अपने नाम को सार्थक करने के लिए जिस उत्तेजना

को अपना उपजीव्य बनाती है वह अधिक देर तक टिक नहीं सकती। अब कविता छोटी ही हो सकती है बड़ी नहीं। Poe की एक किताब थी The Poetic Principle उसमें का वाक्य The degree of excitement which would entitle a poem to be so called at all, cannot be sustained through a composition of any great length

अत, उनका कहना था कि लम्बी कविता का स्थापत्य, सगठन अवश्य ही शिथिल होगा, और यह लम्बाई काव्य मे बाधक होगी। पाठक के मस्तिष्क के लिए कविता का वही स्थान है जो चाक्षुष अनुभूति के किसी क्षण में प्रति-बिम्ब का नेत्र की कनीनिका के लिए होता है। यह एक क्षण की बात होती है परन्तु इसमे ही सारी दर्शनीय बातें आ जाती हैं A poem is an image or a succession of images and image is that which presents an intellectual or emotional complex is an instant of time

इसी प्रतिबिम्ब [Image] पर जोर देने के कारण इस सम्प्रदाय को इमेजिस्ट कहते हैं। इनमे कवितायें छोटी होती हैं और अभिव्यक्ति सीधी और चुभने वाली। वास्तव मे आकुचन का यह सगठन आधुनिक काव्य की विशेषता है। अत आलोच्य सकलन की भी अधिकाश कवितायें लघ्वाकार हैं। उदय शकर भट्ट की यह कविता

घरती से बढ कर और नहीं कोई
जिन्दगी यहीं पर उगी, फली, रम-पोई
नक्षत्र, चाद सूरज में घूम थकी जब
ईश्वर की काया पाषाणों में सोई॥

यह कविता अपनी अभिव्यक्ति के तीखापन, भरेपन तथा आकुचनात्मक सगठन मे किसी भी इमेजिस्ट कविता से टक्कर ले सकती है। गीत (११), अपरूप-आरूप, रात, आशा की वशी, जिन्दगी, फागुनी शाम इत्यादि शीर्षक कवितात्रों को इसके उदाहरण के रूप में उपस्थित कर दिया जा सकता है।

यह कहने के लिए कि इस सकलन की कुछ कविताओं पर Symbolism सम्प्रदाय का प्रभाव परिलक्षित होता है हमे सिम्बलिज्म का अर्थ समझना होगा। पहले तो यह कि सिम्बल और Allegory मे अन्तर है। रूपक

अन्योक्ति, Allegory में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के सादृश्य सूत्र स्पष्ट होते है, उनके प्रसंग निश्चित रहते है। जॉन वनयान के Pilgrim progress में जब हम पढ़ते है कि मिस्टर क्रिश्चियन लंदन में जाकर लोभ के किले में गिर पड़े तो संकेत सूत्रों को पकड़ने में कोई कठिनाई नहीं होती पर Symbolism में संकेत स्पष्ट नहीं होते, किसी वात को स्पष्ट करना शायद उसका लक्ष्य भी नहीं होता। कहना यह है कि दांत का दर्द तूफान की तरह उठ रहा है पर सिम्बलिस्ट ऐसा न कह कर पहले रुग्ण दांत का वर्णन करेगा और वाद में तुरन्त एक डूवते हुए जहाज का वर्णन करेगा। अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का सम्बन्ध-सूत्र अस्पष्ट रहेगा, उसको समझने के लिए पाठक को युग से परिचिंत रहना होगा, इतना ही नहीं कवि के व्यैयक्तिक जीवन के कोनों को भी छानना पड़ेगा। पाषाण जी की कविता वम्बई की शाम में विलास पूरी की चहल पहल का वर्णन हो रहे है रेस्त्रां का, दाल गांठिया, वेदों-सैंडविचे, जैली विस्कट, मस्कावेरां, वेक सभी हैं पर।

मैं बाहर आ देख रहा हूँ
ट्राम लाइन पर नीचा मुँह कर
एक दर्शनिक कुत्ता ऐसे चला जा रहा है
जैसे उसके लिए सकल वसुधा कुटुम्ब है।

इस कविता में कुत्ते के चित्र द्वारा आज की सभ्यता पर जो चुभता व्यगं किया गया है उसके सूत्र भले ही स्पष्ट न हों पर एक वार समझ लेने विजली की रोशनी की तरह सारे वातावरण को वह उद्भसित कर देता है।

इस तरह हम देखते हैं कि कविताओं का यह आलोच्य संकलन भले ही सर्वोत्तम कविताओं का सकलन न हो पर हिन्दी कविता की गतिविधि का संकेत तो देता ही है। वतलाता है कि आज कवि प्रेषणीयता की समस्या को किस तरह हल कर रहा है, किस तरह पुरानी घिसी घिसाई शब्दावली को छोड कर नये शब्दों, वोल चाल में प्रयुक्त मुहाविरों, नित्य प्रति के व्यवहार में आई वस्तुओं को भाव-प्रेषण-समर्थ वनाया जा सकता है। आज के कवि का उत्तरदायित्व और भार वहुत ही वढ गया है। उत्तरदायित्व भले ही न वढा हो क्योंकि वह तो सदा से एक ही रहा है। मानवता की प्रसुप्त आत्मा को जगाना, उसे अंधकार से प्रकाश में लाना वह आज भी है। पर भार

जरूर बढ़ गया है । पहले का पाठक सधा सधाया हुआ पाठक होता था, कवितायें कुछ परिचित विषयों पर ही लिखी जाती थी जिन्हें पढते ही पाठक काव्यात्मक ढग से प्रतिक्रिया करने के लिये उत्सुक रहता था जैसे चार्ली चेपलेन को देखते ही हम हसने के लिये मुह बाये रहते है। यह सुविधा आज कवि को प्राप्त नहीं है। प्रथमत तो यह कि आज आधुनिकता के रग में आकर कवि यह समझने लगा है कि कोई भी विषय काव्य का उपजीव्य हो सकता है, विशेषत आधुनिक युग की वस्तु, उदूजन बम, माली का छोकरा, बुझी सिगरेट की टुकडी इत्यादि। कवि का विश्वास हो गया है कि पुरानी काव्यात्मक शब्दावलिया घिस कर निर्जीव हो गई है, नइ शब्दावली उत्पन्न करनी होगी और इसके लिये हमे जन साधारण की भाषा का सहारा लेना होगा। हमारा चाद प्रिय के बालों की क्लिप सा होगा, या उसके नेकलेस सा होगा। पुनरुक्ति काव्य का दोष माना जाता है, पर हम पुनरुक्ति जैसी चीज को ही काव्य की महिमा से मडित कर देगें देखिये ३५ नम्बर की कविता जहा "यह जो एसे ही से" प्रारम्भ होने वाली अनेक पक्तिया कितनी प्रभावोत्पादक हो गई है । दूसरी बात यह कि पाठक की ओर से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। कारण कि ये आधुनिक चीजें रेल्वे, ट्राम, मशीन, इंजिन, धुआ इत्यादि इनके भावात्मक रागात्मक या कल्पनात्मक जीवन का अग नहीं बन सकी हैं। हमारे भावों या रागों में निवास करने वाली वस्तुए कवि की प्रतिभा के स्पर्श के बिना ही अर्द्ध पक्व कविता हैं। यह बात नई चीजो के लिये नहीं कही जा सकती। और आज नित्यप्रति इतनी चीजों का आविष्कार होता चला जा रहा है, ज्ञातव्य सामग्री का अम्बार लगता चला जा रहा है कि उनको देख कर आश्चर्यित उच्छ्वसित होने अर्थात उन्हें अपने राग के डोरे से बाधने की शक्ति भी भोथर हो गई है। एक चीज को हृदय में स्थान दिया नहीं कि दूसरी दरवाजा खटखटाने लगती है अत No vacancy का साईनबोर्ड लगा देना पडता है। और हमारा कवि है जिसका काम ही है कि फल के पूर्ण रूप से पकने के पहले ही तोड लेना, जहा जरा भी चमकती हुई चीज दिखाई पडी नहीं, उसमें पूरा मूर्ति विधायक रस भरा भी नहीं कि उसके दावे को, अधिकार को, सत्ता की स्वीकृति को पाठक के सामने पेश कर दिया। ऐसी सूरत में हमारे कवियों को लोग समझ न सकें, उनकी कविताओं को नीरस तथा अबोधगम्य कहें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। ब्लेक ने कहा था 'Every

great and original writer, in proportion he is great and original, must create the taste by which he is to be judged.

इस संकलन में भले ही कोई कविता छपी न हो जिसे हम आदर्श रूप में उपस्थित कर सके, परन्तु हमारे कवि एक नूतन मार्ग का अन्वेषण जरूर कर रहे हैं, वैसा मार्ग जरूर तैयार कर रहे है, वैसी भूमि अवश्य निर्माण कर रहे हैं जिस पर अधुनिक काव्य का भव्य भवन निर्मित होगा । नीरज की "उद्जन वम्ब के परीक्षण पर," उदय शंकर भट्ट का "दो मुक्तक," गोपाल कृष्ण कौल की तीन रुबाइयां, देवराज का "धरती और स्वर्ग," नागार्जुन का "कालिदास के प्रति, माचवे का फिर से उज्जयिनी देखी," ये कवितायें किसी भी साहित्य के लिये गर्व की वस्तु हो सकती हैं ।

वर्षान्त के बादल

वर्षान्त के बादल अचल जी की कविताओं का नवीनतम संग्रह है। कविताओं के संग्रह कहने से अधिक अच्छा होगा कि इसे गीतियों का संग्रह कहा जाय कारण कि अधिकांश कविताओं में गीति-तत्व ही प्रमुख हो उठा है। इन्हें पढ़ कर मुझे अधिक प्रसन्नता इस बात पर हुई कि कवि ने यहाँ जगत के कोलाहल से थोड़ी दूर हट कर समाज को झकझोर देने वाली आर्थिक या राजनैतिक हलचलों से ऊपर उठा कर अपनी प्रेरणा के सच्चे स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न किया है। अचल जी उन कवियों में से हैं जिन पर प्रचलित सामयिकता के जोश पर उठने वाले नारों का प्रभाव पड़ा तो है पर उन पर वे कभी भी हावी नहीं हो सके हैं। उन्होंने प्रगतिवादी भी कविताए लिखी हैं, उनकी अभिव्यक्ति ने कभी कभी प्रयोगवादी रूप भी धारण किया है। पर न तो वे प्रगतिवादी ही हैं और न प्रयोगवादी ही। अगर वे कुछ हैं तो प्रेरणावादी हैं, हृदयवादी हैं, अभिव्यक्तिवादी हैं। अचल जी के कवि हृदय का निर्माण उन्हीं तत्वों को लेकर हुआ है जिन्होंने दिनकर, बालकृष्ण शर्मा नवीन इत्यादि कवियों का निर्माण किया है। हाँ, थोड़ी बहुत मात्रा का अन्तर तो हो। सच पूछिये तो जिस व्यक्ति को अंग्रेजी काव्य से कुछ भी परिचय है उसे अचल जी की कविताओं में और जार्जियन कविताओं में समानता के प्रति दृष्टि गये बिना नहीं रहेगी। सीधे सीधे चिरपरिचित सुखग्राह्य भाव, सीधी भाषा, छन्दों की एक-रूपता इनकी विशेषता है। यह काव्य भी विद्रोह का नारा ही लेकर चला था पर काव्य की गति विधियों पर स्थायी प्रभाव नहीं डाल सका।

इस संग्रह की कविताओं को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। (१) ऐसी कवितायें जिनमें प्रेम की एक निष्ठा और आत्म-समर्पण की

प्रबल पुकार है। अंचल जी के उपन्यासों में भी प्रेम की इसी जीवन व्यापिनी एकता ही धारा है। (२) दूसरी श्रेणी की कविताओं में कवि ने प्रणय और विरह के गीत गाये हैं जिनमें प्रेम की टीस भरी याद और मन में उठने वाली भावनाओं का सच्चा और निष्कपट चित्रण है। इनमें मांसलता भी कहीं कहीं उभर सी गई है पर कवि ने इस मांसलता के उस स्वरूप को पकड़ा है जहाँ वासना भावना में, स्थूल सूक्ष्म में परिणत हो रहा होता है। (३) तीसरी श्रेणी में वे कवितायें आती हैं जिनमें कवि ने प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण किया है और उसी के बहाने पाठकों के हृदय में उन्नायक तत्वों का सन्निवेश किया है। (४) चौथी श्रेणी में प्रकीर्णकों को लिया जा सकता है जिनमें "तुम और मैं" परम्परा की कविताएं हैं तथा अन्य कविताएं हैं। इन पर उर्दू शायरी का प्रभाव सा दिखलाई पड़ता है। 'कांटा पुजारिन से' शीर्षक वाली कविता, ऐसा मालूम पड़ता है, "गुलों से खार अच्छे हैं जो दामन थाम्ह लेते हैं" का ही भाष्य हो।

कहीं पर पढ़ा था कि साहित्य (यहां पर कविता ही मान लीजिए) दो तरह का होता है एक वह जो जिलाता है, । दूसरा वह जो हम में जीवन की सामर्थ्य जगाता है, हमें जीने लायक बनाता है अर्थात् हमारी संवेदनशीलता और ग्रहणशीलता को इस तरह जगा देता है कि हम जीवन की मिट्टी से भी पोषक तत्व खींच ले सकते हैं। हमारी आत्मा के वातायन खुल जाते हैं और शुद्ध वायु का संचार हममें स्फूर्ति भर देता है। उनमें भावों का स्थूल रूप भले ही हो, निराशा हो, दीनता हो पर उनसे शक्ति ही प्राप्त होती है। इस संग्रह में यही बात दीख पड़ती है। बहुत सी ऐसी भी कविताएं है जिनमें कवि ने अपने को याचक की स्थिति में रखा है और किसी से आन्तरिक बल और शक्ति की याचना कर रहा है। पर याचना करने वाले हृदय का जो स्वरूप सामने आता है वह ऐसा दिव्य है और उसकी वाणी उस रंध्र से निकली है जो अमोघ होती है। उससे हृदय की दीनता नहीं पर दृढता ही हमारे सामने आती है। और चूंकि वह व्यंग होकर आती है अतः और भी प्रभावोत्पादक हो जाती है। उदाहरण के लिए यह कविता लीजिये।

ओ नभ में मंडराते बादल वे बरसे मत जा
मन के होठों पर रस की बिखरी पहचान जगा।
सूखे सुमनों को हरियाली का आभास दिखा

खींच क्षितिज पर शीतलता की उज्ज्वल धूप शिखा
आज वर्ष की पहली वर्षा का पहला झोंका
इतने दिन तक भू ने प्रखर पिपासा रोका
ओ

इन पंक्तियों के पाठक का ध्यान याचना से अधिक उस हृदय की ओर आकर्षित होता है जिसने यह याचना की है और यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कोई मामूली हृदय नहीं, उसकी वाणी में तरलता है, तन्मयता है, वह सशक्त अपील है जिसके सामने दाता को पराजित हो ही जाना पड़ता है, वह रहता तो बाहरी दृष्टि से दाता भले ही हो पर अपने दान को देकर कृतज्ञ ही होता है, दाता होने का गौरव हिम-खण्ड की तरह गल गल कर पानी हो जाता है। मालूम होता है कि याचक के अन्दर एक ऐसी प्यास है जो जब अकुलाती है तो अम्बर की छाती फट जाती है। कहीं कहीं तो हृदय के अडिग विश्वास की, लक्ष्य निष्ठता की, इष्टसिद्धि की प्राप्ति के लिए अपने प्रलय भरे पागलपन की अभिव्यक्ति क्या हुई है पाठक के हृदय को भी उन्हीं उन्मत्त झकोरों से भर दिया है। उदाहरण के लिए "कैसे दीप जलेगा" शीर्षक कविता की अन्तिम पंक्तियों को देखिये —

मेरा मन तो कभी न कांपा जब जब तम ने घेरा।
करता रहा चूर तमसा को जल जल जीवन मेरा।
जब जब आया पूर व्यथा में मैंने गीत सजाया।
कैसे दीप जले ऐसे मे मन यह समझ न पाया।
नभ मे बिजली चमकी भू पर कैसे दीप जलेगा।

इसमें कवि काव्य के अभिधेयार्थ के द्वारा ही अपने हृदय के भावों को अभिव्यक्त करता है। परन्तु जहा उसकी अभिव्यक्ति सीधी न होकर व्यंग होकर, ध्वनित होकर आई है वहा वह और भी प्रभावोत्पादक हो गई है। "विदा के क्षणों में" कवि अपनी प्रेयसी की विदाई पर "मिनटों मे चल देगी गाड़ी दूर चली जाओगी रानी" कहते कहते जब कहता है।

मेरे फीके जीवन की ज्वाला का सूखा पथ न सींचो
ओ जीवन की बाती ठहरो और अधिक आलोक न खींचो

कहता है तो सुनने वाला किसी दुविधा में वहां रह जाता। वह जानता है कि वह आलोक भले ही मांगता है पर उसके जो पास ज्योति है वह पतली भले ही हो पर अंधकार के उमड़ती फौजो से उसके गढ़ में समा कर लड़ने की समथ्र्य है उसमें।

आप कहेंगे कि यह समीक्षा क्या है कविता ही करने लगे। पर "वर्षान्त के बादल" में काव्य का जो स्वरूप अवतरित हुआ है उसकी समीक्षा का दूसरा रूप हो ही नहीं सकता। जैसी कविता होगी उसकी आलोचना भी उसी तरह की होगी ही। आलोच्य वस्तु भी अपनी आलोचना के स्वरूप को प्रभावित करती है। छायावाद को आलोचक मिला तो शान्तिप्रय द्विवेदी जी के ही रूप में। छायावाद काव्य का आलोचक किसी न किसी रूप में शान्ति प्रिय द्विवेदी ही होगा और प्रयोगवाद या प्रपद्यवाद का नलिन विलोचन शर्मा। आज की नूतन प्रयोगवादी कविताओं की समीक्षा इस भाषा में करके अजमाइये आपको एक पग आगे बढ़ना कठिन हो जायगा। इसी तरह अंचल जी के काव्य में विरह की व्याकुलता, प्रणय की पीड़ा आतुरता, लालसा की उद्दामता, मोह, उन्माद तथा सौंदर्य की साधना की सर्वस्वान्तिनी धारा प्रवाहित हो रही है। पाठक उस धारा पर बहते बहते उसमें डभचुभ होने लगते है। छायावादी कवियों ने भी हृदय की पीड़ा और वेदना की विवृति कम न की थी पर उनकी कविताओं के पढ़ने से यही लगता है कि वहां जो चीज तडप रही है वह छोटी कलेजी है जो अब रुकी या तब, वह कलेजा सवा हाथ का नही जो तडपे तो आकाश और पाताल हिल उठे। पर अंचल जी का कलेजा जब तडपता तो सारा विश्व तडपता है। वह पाठकों के हृदय के प्रस्तर खण्ड को गला कर ऐसा तरल बना देता है कि उस पर नये संस्कार सुगमता से उगाये जा सकें। यही अंचल जी की कविताओं का साफल्य है और यदि उन्होंने छायावादी अभिव्यक्ति अथवा हिन्दी काव्य की अभिव्यक्ति को थोड़ी अधिक क्षमता या सामथ्र्य प्रदान किया है तो इसी अर्थ में। कुछ आलोचकों ने उन्हें क्रान्तिकारी कवि कहा है। परन्तु उन्हें क्रान्तिकारी कहना, मेरे जानते, क्रान्ति शब्द को अत्यधिक खींचना या घसीटना है। जहां तक अभिव्यक्ति का प्रश्न है शायद हिन्दी का कोई भी कवि क्रान्तिकारी नहीं है। इस संग्रह के "वर्षान्त के बादल" "शारदी निशा" नामक इत्यादि कविताओं से प्रयोगवादी अभिव्यक्ति की चेष्टा अवश्य है पर वह चेष्टा वैसी ही है मानो श्री मैथिलीशरण गुप्त की वर्णनात्मकता छायावाद की भावात्मकता की फुलवारी में हवाखोरी के लिए चली गई हो।

हिन्दी साहित्य सचमुच इस बात में सौभाग्यशाली है कि उसका क्षेत्र अपने स्वाभाविक रूप मे कुछ लेता हुआ और देता हुआ बढता है। अंग्रेजी साहित्य का उस पर प्रभाव पड़ा तो है पर यहां की अतिवादिताओं ने इस पर अपना अवांछनीय प्रभाव नहीं डाला है। अंग्रेजी साहित्य से पूर्ण परिचय का अभाव हिन्दी कवियों के लिये एक तरह से अच्छा ही रहा है। T S.Eliot, Gertude stein E E Cumming का दूसरा संस्करण यहां देखने मे नहीं आया। जो लोग ऐसा प्रयत्न कर रहे हैं उनकी संख्या नगण्य है और वे मानो अपने मुंह के बल गिर गिर पड़ रहे हैं। मैंने सुना है कि T. S, Eliot इत्यादि की कवितायें भी अब मोड़ ले रही हैं, और Waste Land इत्यादि की विछिन्नता दूर होकर एक सुव्यवस्था और बोधगम्यता का समावेश हो रहा है। अंचल जी ऐसे कवि इस उदाहरणों से लाभ उठा रहे हैं यह बड़ा ही उत्साह जनक है। मैंने जानबूझ कर इस संग्रह की कविताओं के साथ रूपक का सफल निर्वाह, अप्रस्तुत योजना के कौशल तथा अलंकार के प्रयोग चर्चा नहीं की है। ये ऊपर ऊपर इस तरह तैरते हैं कि किसी भी पाठक को सहज प्राप्त हो सकते हैं। एक वस्तु के लिए अनेक उपमान लाना छायावादी युग की मुख्य विशेषता रही है जो अंचल जी में भी लगी आ रही है। यह प्रवृत्ति तो आज के प्रयोगवादी कवियों में भी है पर जरा पहलू बदल कर।

वर्षान्त के बादल की कविताओं में यदि खटकने वाली कोई बात है तो उसकी (Monotony) वैविध्य का अभाव। छंद भी प्राय वही, भाषा का भी वही रूप, भाव की तो बात जाने दीजिये। वे तो कम होते ही हैं जो अनेक रूप धारण कर हमारे सामने आते हैं पर उसी प्रक्रिया में थोड़ा बादल भी जाते है। शब्द भी प्राय- एक से ही हैं, वैसे शब्द जिन्हें इतना धुना गया है कि वे अक्षम हो गये हैं, और उनमे वह टनन टन्न की आवाज नहीं निकलती।

वास्तव में पूछिये तो आज का प्रयोगवाद ऐसे ही घिसे शब्दों तथा रूपकों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे उत्पन्न हुआ है। एक ने लिखा है The present day experimentation in poetry has been chiefly eng1ged with the porblem of the petrified verbal forms and clotted images अर्थात आज का प्रयोगवादी काव्य प्रस्तरीभूत, निष्प्राण शब्दों और रूप विधानों की समस्या मे उलझ रहा है। ये Poeticised countrfiet coins है अर्थात् हैं तो अपने में नकली सिक्के ही पर लोगों ने कवित्व व्यंजक कह दिया है। अंचल जी की कविताओं में इन नकली सिक्कों का प्रयोग कम नहीं है। कम हो तो अच्छा रहे।

बोलों के देवता

आज हिन्दी कविता एक नये मोड़ पर खड़ी है, और उसमें तरह-तरह के प्रयोग चल रहे हैं। बालदेयर, ला मार्लामें तथा पाल वालेरी-जैसे कुछ फ्रांसीसी कवियों और टी. एस. इलियट जैसे अंग्रेजी कवियों का हवाला दे कर कहा जा रहा है कि कविता का उद्देश्य यह नहीं कि वह कोई विचार, सिद्धांत या तर्क-संगत बात कहे। उस के लिए यह भी आवश्यक नहीं कि वह प्रसाद गुण-सम्पन्न हो, सुबोध हो, बल्कि कविता जितनी ही दुर्बोध हो उतनी ही अच्छी। कविता यदि मनोरागों और भावों को पाठकों तक पहुँचा सकी, उसने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया। अर्थ की संगति बैठे न बैठे, पाठक को समझ में आए या न आए, मेरी बला से। इन क्रांतिकारी विचारों का प्रभाव अभी अधिक तो नहीं पर कुछ पाठकों पर अवश्य पड़ने लगा है और वे यों ललकारते हुए पाये जाते हैं कि "वाह! स्थूल इतिवृत्तात्मकता के विरोध में छायावादी काव्य ने जब विद्रोह किया था, तब भी यही कहा जाता था कि

इन हीरक-से तारों को कर चूर बनाया प्याला!
प्राणों का सार मिला कर पीड़ा का आसव ढाला।"

इस तरह की पंक्तियों का क्या अर्थ! इस तरह के आलोचक तथा पाठक-वर्ग के लिए तो सुश्री सुमित्रा कुमारी सिन्हा की कविताएँ जो 'बोलों के देवता में संग्रहीत हैं बहुत महत्त्व की नहीं होंगी। वे नाक-भौं सिकोड़ते हुए कहेंगे कि यह भी कोई कविता में कविता है "जलने में भी शीतल आहों का बिखरा मीठा-सा स्वर।" वे ही घिसे घिसाए Counterfiet poeticized coins. अर्थात् ऐसे सिक्के, जो नकली हैं, बाज़ार में लोगों के बीच भले ही चल जाएँ।

पर पाठकों का एक बहुत बड़ा समुदाय ऐसा भी होगा (मैं भी उन्हीं में से एक हूँ) जिनके हृदय में 'बोलों के देवता' की कविताएँ आनन्द का

सचार करेंगी, उनमें प्रेरणा भरेंगी, जीवन की कटुता को अन्दर से सह लेने की शक्ति प्रदान करेंगी। ऐसा लगता है कि कवयित्री के हृदय का तथा उसके भावों का निर्माण उन्हीं वस्तुओं से हुआ है जिनके द्वारा महादेवी जैसे छायावादी कवियों का हुआ था। परन्तु प्रथम दौर के छायावादी कवि बाढ़ की उपज थे। जब बाढ़ आ जाती है तो जीवनप्रद मिट्टी के साथ-साथ अवांछित कूड़ा करकट भी आ जाता है, उसमें अतिवादिता का आ जाना स्वाभाविक होता है। पर बाढ़ में बहुत-सी चीजों को छान कर समय दूर कर देता है और स्वच्छ वातावरण सामने निकल आता है। छायावाद के इसी स्वच्छ वातावरण की उपज सुमित्रा कुमारी सिन्हा हैं। अतः इनकी कविता में मिठास का वह घनीभूतत्व नहीं जो अरुचिकर हो जाता है। अभी एक शिष्या के यहां से चाय पी कर आ रहा हूँ। गर्म-गर्म चाय जो आयी तो उसने चाय की चुस्की लेते हुए कहा, "चाय बेहद मीठी बनादी है।" उसी तरह छायावादी कविताओं को हम आज पढते हैं, तो ऐसा लगता है कि उनमें भावात्मकता कोमलता आर्द्रता की चाशनी अधिक पड़ी हुई है। यह बात दूसरी है कि उस समय काव्य-माधुरी के लिए तरसने वाली जनता को यह बात न खटकी हो। पर आज जब हम स्थिर दृष्टि से पढ़ते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि शरबत बहुत अधिक गाढ़ा हो गया है, उसमें थोड़ा पानी मिला देने की आवश्यकता है। यही काम सुमित्रा जी की कविताओं ने किया है। लाक्षणिक चपलता और वक्रता इनकी भाषा में भी कम नहीं है। दो विपरीतार्थक शब्दों को साथ बैठा कर अभिव्यंजना में एक चमत्कार लाने की चेष्टा हुई है, पर कहीं भी शब्द तथा भावों को उस सीमा तक घसीटने का प्रयत्न नहीं हुआ, जहां हमारे साहित्यशास्त्री नेयार्थत्व-दोष की गंध पा लेते हैं। अत 'बोलों के देवता' की कविताएँ

"निशा को धो देता राकेश, रात में जब पलकें खोल।
कलि से कहता था मधुमास बता मधु मदिरा का मोल'

(महादेवी) के ढंग की नहीं हो पायी हैं।

'जहाँ पराजय को दुलरावें,
विजय-कामना के स्वर मचलें,
पल भर के सपनों के जग में
पथ, दिशि, मान-दण्ड सब बदलें।

ले आदान-प्रदान युगों के
झोंके रसमय लोचन मन के !'
तक ही अपने को सीमित रखा है।

यहाँ मैं दोनों कवयित्रियों की तुलना नहीं कर रहा हूँ और न यही कह रहा हूँ कि एक के सामने दूसरी की कविता फीकी है। दोनों दो युगों की तथा दो मनोवृत्तियों की उपज हैं। आज हम अपने नेता पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व से पूर्ण संतुष्ट है, उनके संकेत पर नाचने के लिए तैयार हैं, फिर भी आज ऐसे लोग हैं ही, जो कह उठते हैं, पं० मोतीलाल नेहरू, सी. आर. दास में जो गौरव गरिमा की आढ्यता थी, आभिजात्य था, आज वह दुर्लभ है। आज हम सुमित्रा जी की कविता पर मुग्ध हैं, रस ले-ले कर पढ़ते हैं। उसमें जीवन की मिट्टी की सोंधी गंध को पाकर प्रसन्न होते हैं, महसूस करते हैं कि प्रथम पीढ़ी की कविताओं से इनकी कविताएँ आगे हैं, पर फिर भी कहेंगे कि वह पुरानी बात कहाँ,। 'वे चितवनि कछु और हैं'। 'बोलों के देवता' की कविताओं को पढ़ कर लगता है कि वहाँ दो काव्य धाराओं का संगम हो सका है। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक काव्य-धारा कुछ उपर उठ आयी है और छायावादी काव्य कुछ नीचे ज़मीन की ओर झुक गया है, तथा राष्ट्रीयता के हुँकारवाद से मिल कर काव्य की त्रिवेणी की सृष्टि हो सकी है।

मेरे जानते हिन्दी-काव्य का विकास इसी ढंग पर होता चलेगा। हिन्दी-काव्य में एक और क्रांति की लहर आयी है। वह अपने साथ कुछ नवीन पौष्टिक तत्त्व भी ला रही है, अवश्य पर उसका जौहर तब दिखलाई पड़ेगा जब ज्वार शान्त हो जाएगा, प्रवाह में स्थिरता आएगी और सुमित्रा जी जैसी प्रतिभाएँ सामने आ कर समन्वय-साधना करेंगी। यही विकास का सच्चा मार्ग है।

'बोलों के देवता' में जिन दिव्य भावों को अभिव्यक्त किया गया है, उन पर मैं विशेष नहीं कहूँगा। वाजपेयी जी ने अपनी भूमिका में बहुत कुछ कहा है। इन कविताओं में विनय-युक्त पर आत्मसम्मान से भरी एक साधिका का सुदृढ कण्ठ-स्वर है, जीवन और जगत के प्रति निश्चल आस्था, 'कर्मण्येव अधिकारस्ते' वाले दर्शन में विश्वास, साधना को साध्य से भी अधिक समझने वाले दृष्टिकोण की सशक्त काव्यात्मक अभिव्यक्ति हो सकी है। इस दृष्टि से भी सुमित्रा जी की कविताएँ छायावादी कविताओं से भिन्न हैं।

अपराधी कौन है

इस उपन्यास में उम्मेदसिंह नामक एक बालक की कथा है। बालक बड़ा ही कुशाग्र-बुद्धि है, उसमें नेतृत्व के सारे गुण वर्त्तमान हैं। पर गरीबी के कारण एकाध बार वह कुछ चीजें चुराता है, पकड़ा जाकर जेल में डाल दिया जाता है। वहां पर उसके साथ निर्दय, निर्मम और असहानुभूति पूर्ण व्यवहार होता है तथा उसे कठोर यंत्रणायें दी जाती हैं कि उसमें सुधार तो क्या होगा, उसका अधःपतन होता जाता है और अन्त में एक पक्के चोर क्या Confirmed criminal के रूप में सामने आता है। इसी सीधी साधी सी कथा के आधार पर उपन्यास की रचना हुई है।

मैं ने सीधी साधी कथा कहा। इसलिए कहा कि मैं यह ढूंढने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि इस उपन्यास के गुण क्या हैं, उन्नायक तत्व क्या हैं, वे कौन से तत्व हैं जो आज के प्रकाशित होने वाले सैंकड़ों उपन्यासों से इसे पृथक करते हैं। पृथक ही नहीं करते इसके उज्ज्वल पहलू को हमारे सामने रखते है। उपन्यास में और कुछ न हो, केवल कथा में, उसकी कल्पना करने के ढंग में थोड़ी सी नवीनता हो, एक चुभती सी, Striking सी लगने वाली, अकचका देने वाली, बुद्धि को झकझोर कर कुछ सोचने के लिए प्रेरित करने वाली बात हो तो भी उपन्यास चल निकलता है, उसको मान्यता मिल जाती है। वास्तव में देखा जाय तो सारा फ्रेंच साहित्य और उससे प्रभावित यूरोपियन साहित्य कुछ अजनबी सी बात कह कर झकझोर देने वाली प्रवृत्ति पर पुजवा रहा है। कहीं एक कहानी पढ़ी थी कि एक मां अपने एकलौते पुत्र को डिप्थेरीया के रोग से घुट घुट कर मर जाने देती है ताकि अपने पिता की लिखी पुस्तकों में प्रतिपादित दूषित सिद्धान्तों को पढ़ कर उसके भी विचार विपाक्त न हो जाय। फ्रेंच साहित्य में ही इस तरह की कहानियां

लिखी जाती है। उसे मुबारक हो। भारतीय शिव के कण्ठ में अभी उतनी शक्ति नहीं आई है कि इस तरह के विष को निगल सके। मैं इस तरह की काल्पनिक उच्छृङ्खलता का समर्थन भी नहीं करता। इतना ही कहना चाहता हूँ कि एक चुभती सी नवीनता भी कभी कभी अपने को पुजवा लेती है। "अपराधी कौन" में कौन सी नवीनता है जिसके बल पर वह आज के सहस्रों उपन्यास प्रवाह से ऊपर उठ कर अपनी सत्ता की घोषणा करे। कथा वही पुरानी है जिसे न जाने कितनों ने कई बार कहा है। कहने का ढंग वही पुराना है, ग्राण्ड ट्रन्क रोड की तरह जो मानों चली, तो चलती ही चली गई। कभी इधर उधर मुड कर, विशेषत अतीत की ओर जरा देखा भी नहीं। क्या जीवन ऐसा ही होता है जिसके प्रतिबिम्बित करने की प्रतिज्ञा लेकर उपन्यास-कला वजूद में आती है।

क्या यह जीवन सागर में जल भार मुखर भर देना
कुसुमित पुलिनों की क्रीडा व्रीडा से तनिक न लेना

पहली बात तो यह कि Plot अर्थात कथा भाग का उतना महत्व अब उपन्यासों के लिये रह नहीं गया है। अन्य देशों के उपन्यास-साहित्य के लिये ही नहीं हिन्दी के लिये भी। अब हम उपन्यास को केवल मनोरंजन और चुस्त दुरुस्त कथा के लिये ही नहीं पढते, अपने अन्दर एक तरह की जागृति तथा प्रकाश पाने के लिये पढते हैं। यदि कहानी हो भी तो वह इतनी बर्हिमुखी न हो कि वह चलती ही चली जाय। उसे थोडा ठहर कर अतीत की ओर भी देखना चाहिये और वहां से लेती हुई और उसे कुछ देती हुई चलना चाहिये। साप कुछ आगे चलता है फिर पीछे पडता है और इसी प्रक्रिया मे शक्ति प्राप्त करता हुआ शान से अग्रसर होता है। कहानी की गति गज गामिनी होती है।

रणित भृंग घंटावली, झरत दान मधुनीर
मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजर-कुंज समीर।

यह है हमारी कहानी। इस तरह की कोई शोभा इस उपन्यास मे नहीं मिली।

शुक्ल जी ने महाकाव्यकार के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि उसे कथा के मार्मिक स्थलों के पहचानने की शक्ति होनी चाहिये तथा वैसे स्थलों

पर ठहर कर अपनी मनोवृत्ति की तल्लीनता का परिचय देना चाहिये। इस वर्णन-प्रधान तथा कथा-प्रधान उपन्यास में सब प्रसंगों को एक ही लाठी से हांकने की चेष्टा है। कोई भी ऐसा प्रसंग पढ़ने को नहीं मिला जहां पर आकर लेखक की लेखनी चंचल हो उठी हो, और तन्मयता के साथ वर्णन में रस ले रही हो। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों के पढ़ने से स्पष्ट है कि लेखक मनोवैज्ञानिक स्थलों पर आकर रम जाता है। जैनेन्द्र की नारियां अपने अन्दर उलझनों का जाल डसाये फिर रही हैं, अज्ञेय की मनोवैज्ञानिक पकड़ में एक विशिष्टता है। पर अपराधी कौन में कौन सा प्रसंग विशिष्ठ है यह कहना कठिन प्रतीत होता है।

यों इस उपन्यास में मार्मिक स्थलों का अभाव हो सो बात नहीं। मिल में उम्मेदसिंह के प्रसंग को लेकर सरसता को उभार कर रखने का अवसर अवश्य था? इस पर थोड़ा सा अधिक ध्यान देने पर उम्मेदसिंह के चरित्र को निखार कर उसके अन्दर के छिपे जौहर को दिखलाने की गुंजाइश अवश्य थी। पर लेखक की आर्यसमाजी प्यूरिटन मनोवृत्ति ने उसे ऐसा करने से रोका है। ऐसा मालूम होता है कि जीवन की अन्तस्थ मांग के फल-रूप एक नारी उपन्यास में आ पड़ी है। यह जीवनी शक्ति का जादू है जो सर पर चढ़ कर बोल रहा है कि इस आधार शक्ति की अवहेलना नहीं की जा सकती। पर नारी को माया तथा मोह के बंधन में बांधने वाली तथा मनुष्य को अधः पतन की ओर ले जाने वाली वस्तु समझने वाली मनोवृत्ति ने उसके साथ पूर्ण रूप से न्याय नहीं होने दिया है। यह भी हो सकता है कि हिन्दी उपन्यास में यौन मनोविज्ञान के नाम पर वासना मूलक अतिवादिताओं के विरोध में यह प्रतिक्रिया हो। जो हो, सतहीपन, चलतापन इस उपन्यास में सर्वत्र के छाया हुआ है।

हिन्दी में आज कल साधारणतः जो उपन्यास लिखे जाते हैं उन से यह बुरा नही है। इधर के उपन्यासों को पढ़ने से मनमें यही धारणा बंधती है कि देश में प्रचलित राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को ही येन केन प्रकारेण एक कथा-सूत्र में आबद्ध कर उपस्थित कर देना ही उपन्यास कारिता समझी जाने लगी है। इसका अपना महत्व भी है। लोगों को किसी समस्या को समझाने बुझाने में इसके द्वारा कुछ सुविधा भी हो जाती है। ठीक उसी तरह जिस तरह कुनैन की कडवी गोली शक्कर की कोटिंग के सहारे

कल्पलता

आलोच्य पुस्तक में द्विवेदी जी के समय समय पर लिखे गए २० निबन्धों का संग्रह है। कुछ निबन्ध हमारे वर्तमान हिन्दी साहित्य की गति-विधि का निर्देश करते हैं, कुछ निबन्ध निश्चय ही उन निबंधों की श्रेणी में आते हैं जिन्हें अंग्रेजी मे Personal अर्थात् वैयक्तिक निबन्ध कहा जाता है, कुछ ऐसे निबन्ध हैं जिनमे हिन्दी साहित्य की उन्नति में संलग्न संस्थाओं तथा व्यक्तियों के लिये उचित उपाय निर्देशन किये गये हैं। अधिकतर निबन्ध ऐसे ही हैं जिनमें देश की सर्वांगीण उन्नति के लिये सचेष्ट और चिन्तातुल हृदय का तीव्र स्पन्दन दृष्टिगोचर होता है। हां, एक दो निबंध ऐसे भी हैं जिनमे लेखक के ज्योतिष ज्ञान का परिचय मिलता है। इन निबन्धों के विषय मे आलोचना के रूप मे कहना और इसके पढने के बाद जो भाव हृदय मे उठते हैं उन्हें थोडे शब्दों मे प्रस्तुत करना सहज नहीं है। आज जब कि हिन्दी मे ही नहीं अंग्रेजी मे भी (बल्कि अंग्रेजी में तो अधिक,) अधिकतर कूडा भूसा साहित्य का प्रणयन हो रहा है, राहुओं की सेना ने दल बल के साथ सूर्य पर आक्रमण करके मानों उसे आच्छन्न करने की तैयारी कर ली है, टिड्डियों के दल से सारा संसार पट सा गया मालूम पडने लगा है उस समय इस तपोपूत वाणी की ध्वनि सुन कर मनुष्य मे आलोचना वाली प्रवृत्ति थोडे ही रह जाती है? समय के प्रवाह मे डूबते हुए त्रस्त विश्व में सहायता के लिये उठी बाहें इस छोटे से तृणाधार के लिये भी इतनी कृतज्ञ हो जाती हैं कि उनमें इस उपकारी के ऊपर हाथ उठाने जैसा मन रह ही नहीं जाता। अधिक से अधिक आप यह कहेंगे कि कहीं कहीं अनावश्यक विस्तार मालूम पडता है जिसे अंग्रेजी में Verbosity कहते हैं। पर मेरी बात छोडिये, कालीदास ने आकर आपको कह दिया 'एको ही दोष गुण सन्निपाते' तब तो आपको मौन ही शोभन होगा।

गांधी जी जब नोआखाली में साम्प्रदायिक आग में झुलसी हुई जनता को आश्वस्त करने के लिये तथा मनुष्यों के हृदय में जगी हुई धर्मान्ध पशुता को जीतने के लिये अकेले चल पड़े तो किसी कवि ने कहा था।

दुनिया देखे अन्धकार की कैसी फौज उमडती है
एक अकेली किरण व्यूह में जाकर उससे लडती है।

ठीक इस कवि के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि उमडते हुए साहित्य अन्धकार की फौज से जूझने वाली एक किरण जब तक जीती है जब तक निराश होने की आवश्यकता नहीं। शुक्ल जी को लेकर हम बैकन के सामने गर्व से खडे होते हैं। द्विवेदी जी को लेकर हम Chesterton, Lynd, Lucas के सामने खड़े हो सकते हैं।

अंग्रेजी में वैयक्तिक निबन्ध बड़े ही आदर की दृष्टि मे देखे जाते हैं। ये हल्की फुल्की चीजें होती हैं, और जीवन की रगड से भोथर बने, अग्रहण-शील बने मानव मस्तिष्क में थोडी स्फूर्ति का संचार कर कर देना उनका उद्देश्य होता है, ताकि मनुष्य तरोताजा होकर वातावरण से रस खींच सके। ऐसे निबन्ध हमें कुछ अपनी ओर से देते नहीं, पर जीवन से जो कुछ मिल सकता है उसे पा सकने योग्य बनाये रखने की शक्ति हममें बनाये रखते हैं। ये निबन्ध पाठकों से कहते प्रतीत होते हैं कि भाई हमारा काम यही है कि तुम्हें और तुम्हारे शरीर को रोग के कीटाणुओं से मुक्त करदें। अब यदि तुम शक्ति तथा बल संचय करना चाहते हो तो दूसरी ओर देखो, ज्ञान है, विज्ञान है, दर्शन है, बहुत से क्षेत्र पड़े हैं। पर हमें वहां न घसीटो।

पर द्विवेदी जी ने यह कभी स्वीकार नही किया है कि तुच्छ और सतही चीज होना वैयक्तिक निबन्धों का अनिवार्य लक्षण है। निबन्ध का लेखक भले ही शुक्लजी की तरह एक उच्चासन पर खड़े होकर हाकिमाना और बुजुर्गाना ढंग से बातें न करें, पर जो कुछ भी कहे उसका उद्देश्य स्पष्ट हो, उसे पढ़कर पाठक को कुछ मिलता सा जान पड़े। सच पूछिये तो भारतीय चिन्ता के मूलाधार ने ऐसी छिछली और सस्ती मनोवृति को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया है। आज भी जब भारत पश्चिम से आते हुए प्रबल झंझा के झकझोर से वह हिल सा गया दीख पडता है, तब भी उसके पैर अंगद की तरह जमीन पर जमे ही हैं। द्विवेदी जी एक साहित्यक साधक है, वे निर्भयता

मे अपने ऊपर चिपके सड़े छिलकों को फेंक देंगे पर अपने अन्दर से निकलते हुए चमड़े पर ही अन्य श्रेणियों के सत्य की कलम लगायेंगे। चाहे वे नाखून की बातें करें, आम के बौराने की कथा कहें, शिरीष के फूल पर कुछ कहें या ठाकुर जी की बटोर की ही चर्चा करें, पर इनके सिलसिले मे आप मे कुछ बातें ऐसी कह जायेंगे जो लाख रुपये की हों। शास्त्रसम्मत और सुहृद सम्मत का प्रत्यक्ष उदाहरण यदि आपको देखना हो तो आपको कल्पलता से अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं।

निबन्धों की प्रतिक्रिया पाठकों पर तीन तरह से देखी जाती है। कुछ निबन्ध ऐसे होते हैं जिनका पाठक पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता, पाठक ज्यों का त्यों-जैसा का तैसा ही रहता है। दूसरे वे निबन्ध होते हैं जिनके सम्पर्क मे आकर पाठक अपनी गाठ की पूंजी भी गवा देते हैं। तीसरी श्रेणी उन निबन्धों की है जिनके पढ़ने से पाठक अपने को अधिक समृद्ध, अधिक ज्ञानवान और अधिक समर्थ पाता है। कल्पलता के निबन्धों का पाठक कभी भी अपने को पूर्वकालीन अवस्था मे नहीं पायेगा। कल्पलता के निबन्ध तीसरी श्रेणी के श्रेष्ठ निबन्धों मे आते है। पाठक वहा से कुछ ऐसी वस्तु पाकर उठेगा जो उसके जीवन के लिये क्रान्तिकारी हो सकती है। इन निबन्धो को पढ़ कर मनुष्य के अन्तस्तल मे एक विचित्र रासायनिक परिवर्तन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और वह मानवता की उच्च सीढ़ियों पर चढ़ता सा अनुभव करता है। मनुष्य सच्चे अर्थ मे मानवता का पाठ सीखता है। उसमे आस्था उत्पन्न हो जाती है। "न मनुष्यात् श्रेष्ठतर हि किंचित्"। मैं सोचता हूँ कि जब कभी भी भारत उन्नत होगा, वह अपने से दूसरे देशों को कुछ सदेश देने भर की की योग्यता पायेगा, अपने पूर्व गौरव को प्राप्त कर सकेगा तो राजनीतिक व्याख्यानो से नहीं, आर्थिक योजनाओं से नहीं, आज की प्रचलित सस्ती मनोवृत्ति से नहीं, परन्तु कल्पलता की तरह के साहित्य से। साहित्य का नया कदम" इस संग्रह का विशिष्ट लेख है जिसमे आधुनिक साहित्य की गति विधि पर ऐसे सुलझे हुए और सतुलित विचार हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते। इसमे एक काल्पनिक वार्तालाप है और अनेक मतधारी साहित्यिकों के विचारों को पारस्परिक रूप से सम्बद्ध करके देखने की चेष्टा की गई है। आधुनिक प्रगतिवादी का प्राचीनो पर कसा हुआ व्यग्य प्राचीनों द्वारा आधुनिकों पर किया गया मुष्टि प्रहार, उभय पक्ष को ग्रहण करने वालों के द्वारा कभी इस पक्ष पर, कभी उस पक्ष पर की गई मीठी चुटकियां पाठकों के हृदय मे एक

विचित्र गुदगुदी पैदा कर देती है। आज का कोई भी साहित्य का विद्यार्थी इस लेख से अनभिज्ञ रहना गवारा नहीं कर सकता। "समालोचक की डाक" महिलाओं की लिखी कहानियां, मनुष्य की सर्वोत्तम कृति—साहित्य इत्यादि निबन्ध अपने ढंग में महत्वपूर्ण हैं, जिनमें लेखक ने अनेक रुप ये हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि की है।

द्विवेदी जी की लेखनी की विशेषता यह भी है कि पुरानी बातों को भी निजी रुप से उन्होंने पाठकों के सामने उपस्थित इस ढंग से किया है कि वे नई ताजी, स्फूर्त और आत्मरस से उद्वेलित मालूम पडती हैं। उनमें कहीं भी पांडित्य की कमी नहीं है, पर कहीं भी वह पांडित्य हम पर हावी नहीं होता, सब में लेखक का निश्चल हृदय ही दिखाई पडता है। चलते चलते सहज ढंग से कुछ महत्वपूर्ण बातों को कह जाने की कला, इस ढंग से कहने की कला कि के मनुष्य विरोध करता ही रहे पर विरोध की प्रधान रक्षापंक्ति से जरा सा कतरा कर गढ़ के केन्द्र में प्रवेश करके वहां से विरोध के अंजर पंजर को ढीला कर देने की कला इन निबन्धों में कहीं सीखी जा सकती है। वेदों, पुरानों और प्राचीन शास्त्रों के प्रति आप में कितनी ही उपेक्षा के भाव क्यों न जमें हों, इन निबन्धों को पढ़कर आपका काठिन्य अवश्य शिथिल हो जायगा और आप पुनःविचार करने पर बाध्य होंगे। प्राचीनता और नवीनता का ऐसा सुन्दर सांमजस्य हिन्दी साहित्य में विरल है।

निबन्धों में क्या गुण होने चाहिये इस विषय पर किसी पुस्तक में पढ़ा था—

Essay should lay him under a spell witn its first word, and he should awake. refreshed only with the last. In the interval he may pass through varying experiences of amusement, surprise in heart, indignation, he may sour to the height of fantasy...or plunge to the depth of wisdom...but he must never be roused.

अर्थात् निबन्ध ऐसे हों कि उनमें प्रथम शब्द के साथ ही पाठक पर ऐन्द्रजालिक मोहावेश छा जाय और इस तरह, इतना कि अन्तिम शब्द पर आकर ही वह टूटे और जब पाठक जगे तो उसमें स्फूर्ति का संचार होता मालूम पडे। इस बीच में पाठक को अनेक तरह की अनुभूतियां भले ही मिलें, मनोरंजन की, हार्दिक आश्चर्य की, आक्रोश की, कल्पना की ऊंची

से ऊँची उड़ानें ले या ज्ञान की गंभीरतम गहराई में पहुँच जाय पर मोहाविष्टता का जादू कभी भी उच्छिन्न न हो। ये पंक्तियाँ द्विवेदी जी की कल्पलता के अधिकांश निबन्धों के लिए संगत हैं।

सहज पांडित्य की अनुपम कृति का मैं अभिनन्दन करता हूँ और प्रत्येक साहित्य प्रेमी से इस पुस्तक के अध्ययन की सिफारिश करता हूँ।

हिन्दी-कहानियां : शिल्प और शैली

जब से विश्वविद्यालयों ने हिन्दी-साहित्य में अन्वेषण-कार्य को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया है तब से अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि हमारे आलोचना-क्षेत्र की समृद्धि में उनका कोई विशेष अनुदान नही हो सका है। कुछ थीसिस तो "जीवितकवेराशयो न वक्तव्यः" वाले सिद्धान्त पर प्राचीन साहित्यिकों की जन्म-पत्रिकाओं को पढ़ते रहे, उनके जन्म और निवास-स्थान को खोजते रहे। जब इससे कुछ पिण्ड छूटा और आधुनिक समकालीन साहित्य की ओर लोगों का ध्यान गया तो कुछ अन्वेषकों ने सुनी-सुनाई बातों को ही इधर-उधर उलट-पलट कर देने में ही अपने अभीष्ट की सिद्धि समझी, कुछ ने गलत और भ्रामक और कहीं-कहीं अनावश्यक बातों पर ही सन्तोष किया। डाक्टर लक्ष्मीनारायण लाल की प्रस्तुत आलोच्य थीसिस 'हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास' इन त्रुटियों से अनेक अंशों में मुक्त है। विषय को उचित परस्पेक्टिव में रखने के लिए कुछ बातें चक्कर से कही गई हैं। उदाहरणार्थ, पूर्व परिचय, उद्गम और विकास सूत्र तथा कहानी-कला की समीक्षा वाले अध्याय। प्रथम में भारत के प्राचीन कथा साहित्य की बात आगई हैं, द्वितीय में रूसी अमेरिकन, फ्रान्सीसी, अंगरेजी लोक कहानी तथा बंगाली कहानियों की चर्चा आगई है तथा तृतीय में कहानी कला का सैद्धान्तिक विवेचन हैं। थीसिस के विषय का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दी -कहानी साहित्य से है, जो १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध्द से हमारे यहाँ पनपने लगा है। वैदिक काल से लेकर १६ वीं शताब्दी तक के भारतीय कथा-साहित्य से नहीं। यदि ऐसा होता तो प्राचीन भारतीय कथा साहित्य पर विस्तार से लिखना पड़ता, क्योंकि प्राचीनों ने कथा के क्षेत्र में पर्याप्त पयोग किये हैं और टेकनीक का विकास किया है। यद्यपि लाल महोदय ने सानुपातिकता का ध्यान रक्खा है, फिर भी पुरानी सामग्री भी प्रचुर रूप से प्रस्तुत की है।

सच पूछिये तो यह उपलब्धि अधिक कृतज्ञ बनाने वाली है, क्योंकि यह मुफ्त मे मिलती है। हम जब पुस्तक को पढ़ने के लिए खोलते हैं तो यह आशा बाधकर नहीं चलते कि हमे यह ज्ञान भी इतने सहज ढग से प्राप्त हो जायगा। लाल की पुस्तक ने जो कुछ अन्तर भी बातें दी हैं उनका कम महत्व नहीं। हा, कहानी-कला की समीक्षा वाला अध्याय अन्त मे न होकर पहले रखा जाता तो अधिक सुन्दर होता। कारण कि इस जानकारी को लेकर पाठक कहानीकारों की शिल्प विधि में कही गई बातो के मर्म को समझने में अधिक सफल हो सकता है। शिल्प विधि पर लिखने वाले से शिल्प की भूल कैसे बन पडी, समझ मे नहीं आता।

पुस्तक का मुख्य अश लेखक के गम्भीर परिश्रम, अध्यवसाय और अध्ययन का परिचायक है। लेखक ने कहानीकारों की कहानियों का विधिवत् अध्ययन किया है, और उनके विवेचन में, उनके वर्गीकरण में, उनके असली रूप को पहचानने में प्रतिभा का परिचय दिया है। हिन्दी कहानियो के विकास का ऐसा ब्योरेवार, क्रमिक और सागोपाग विवेचन अभी तक देखने को नहीं मिला था। अब तक कहानियो के आरम्भिक विकास के लिए बस 'सरस्वती' और 'इन्दु' का भार मात्र स्वीकार कर लिया जाता था। पर एक-एक वर्ष को लेकर और उसमें कितना और किस तरह कहानियों का विकास हो सका है, इसके प्रदर्शन का काम इस पुस्तक के द्वारा हुआ है।

'इन्दु' के सम्बन्ध में लिखते हुए डॉ० लाल ने एक और स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय दिया है। 'इन्दु' के प्रारंभिक लेखकों मे स्व० पं पारसनाथ त्रिपाठी की ओर आलोचकों का ध्यान नहीं गया है। वे स्व० ईश्वरप्रसाद शर्मा, स्व० प० रामदहिन मिश्र तथा श्री शिवपूजन सहाय के मित्रो मे से थे। श्री राजा राधिकारमण प्रसाद सिंहजी को साहित्य-क्षेत्र में उन्होंने ही दीक्षित किया था। पर आज तक किसी भी इतिहास या आलोचना के क्षेत्र मे उनका नाम तक नहीं लिया गया है। डॉ० लाल का ध्यान इस ओर गया है और उन्होंने लिखा है कि "इन्होंने (स्व० त्रिपाठीजी) बगला कहानियों के अनुवादों से 'इन्दु' की किरणों को बार बार सुशोभित किया।" आशा है अब आलोचकों का ध्यान इनके साहित्य की ओर जायगा। इतनी सी बात ही इस बात का प्रमाण है कि डॉ० लाल में शोधकर्ता की सच्ची स्पिरिट है।

इस पुस्तक का सबसे महत्पूर्ण अंश है—कहानियों के विकास का प्रारम्भिक अंश तथा प्रेमचन्द और प्रसाद पर लिखे हुए अध्याय। 'सरस्वती' के प्रथम सात-आठ वर्षों में कहानियों ने सात तरह के प्रयोग किये तथा भाववत एवं शैलीगत क्या विशेषताएं रहीं इस बात का उल्लेख है। प्रेमचन्द और प्रसाद की तुलना में भी काफी सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया गया है। जो हो, कम-से-कम १० वर्षों तक यह पुस्तक विश्वविद्यालयों में हिन्दी के शिक्षकों की सहायता करती रहेगी।

प्रेमचन्द के बाद के लेखकों के बारे में पर्याप्त सामग्री का संकलन है, पर ऐसा मालूम पड़ता है उनकी गहरी पकड़ अभी आई नहीं है। यह स्वभाविक भी है। कारण कि वे हमारे इतने समीप हैं कि ठीक से उन्हें देख पाने की तटस्थता सम्भव भी नहीं। 'अज्ञेय' की स्ववार्तालाप-शैली (Intereur-monologue) अबाधित चेतना-प्रवाह शैली, आत्मचरितात्मक शैली और उसके कारणों की ओर अधिक चर्चा होनी चाहिए थी। साथ में ऐसा भी लगता है कि शिल्प (Technique) और वर्ण्य-वस्तु (Content) के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या पर सम्यक् प्रकारेण विचार नहीं किया गया है। इस प्रश्न को भी स्पर्श नहीं किया गया है कि क्या कारण है कि आज टेकनीक की नवीनताएं साहित्य के क्षेत्र में अधिक दृष्टिगोचर होती हैं और आलोचक का ध्यान भी इसी ओर अधिक आकर्षित होता है।

हिन्दी आलोचना की ही नही, इधर अर्द्धशताब्दी की यूरोपीय आलोचना की प्रवृत्ति को देखा जाय तो आलोचकों की यही प्रवृत्ति रही है कि किसी भी रचना में यदि शिल्प-कौशल (Craftsmanship of execution) उच्च कोटि का मिल जाय तो उसे साहित्यिक मान्यता मिल जानी चाहिए, चाहे विवेच्य वस्तु कैसी हो। प्राचीन आलोचना विवेच्य वस्तु को प्रधानता देती थी, विवेचन के समय सर्वप्रथम उसका ध्यान यह रहता था कि वस्तु कैसी है, दिव्य या नीच,

"का भाषा का संस्कृत, भाव चाहिए साँच।
काम जो आवे कामरी का ले करौं कमाँच ॥"

यह प्राचीन आलोचक का नारा था, आज है भाव चाहे जो हो, भाषा, मतलब शिल्प, संस्कृत होना चाहिए। यह साहित्यिक अथवा आलोचनात्मक

भ्रान्ति क्यों कर हुई इस प्रश्न पर कथा शिल्प की व्याख्या करने वाली पुस्तक में विचार होना आवश्यक था।

आलोचना दो प्रकार की होती है—एक तो वह जो आलोच्य विषय के बारे में बहुत-कुछ बातें कहने का उपक्रम करती है, उसका वर्गीकरण करती है, दूसरों से तुलना करती है। यह तथ्य-कथन प्रधान होती है। पर दूसरे प्रकार की आलोचना तथ्य-कथन तो नहीं करती पर विचारों को उत्तेजित करती है, नये ढंग तथा दृष्टिकोण से विचार करने की प्रेरणा देती है। तथ्य तो कम होते ही हैं पर उनको बड़े ही मौलिक ढंग से उपस्थित किया जाता है। इसमें पाण्डित्य और अध्ययन की गुरुता नहीं रहती, पर मौलिकता की स्फूर्ति और सूझ-बूझ अवश्य रहती है। डॉ० लाल की यह आलोचना प्रथम श्रेणी में ही आयेगी। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि यह रिसर्च की पुस्तक है और रिसर्च तथा समालोचना बहुत हद तक एक रहते भी दोनों में कुछ अन्तर रहता ही है। मेरे कथन का अभिप्राय केवल यही है कि यह अन्य अन्वेषण-सम्बन्धी पुस्तकों के ही ढग पर लिखी गई एक महत्त्वपूर्ण कृति है पर इसमें रचनात्मकता, सृजनात्मकता का अभाव कुछ खटकता अवश्य है। मन कहने लगता है कि क्यों नहीं इस पुस्तक में कुछ ऐसे अश आ सकें जो हमें रमा लें, ठहरा लें और स्फूर्ति से भर दें।

इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी आलोचना की श्रीवृद्धि हुई है और उसका क्षेत्र समृद्ध हुआ है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी में ऐसी खोजपूर्ण और गम्भीरता तथा अधिकारपूर्वक लिखी पुस्तक आने में कुछ वर्ष लगेंगे। इस परिश्रम और पाण्डित्य का स्वागत है।

एक पत्र

आदरणीय बन्धुवर श्री चतुर्वेदी जी,

मेरा यह लम्बा मौनालम्बन आपके हृदय में तरह तरह के भावों की सृष्टि करता होगा। कभी आप मेरे स्वास्थ्य के लिये चिन्तित हो उठते होंगे, तो कभी मधुर कोप-जन्य भावों के आवेश से झुंझला भी कम न उठते होंगे। पर मैं इधर एक मास के लिये प्रवास में चला गया था और डीडवाना, जयपुर, इलाहबाद, बनारस, पटना, मुजफ्फरपुर, अपने गांव बभनगांवा तथा जैतारण होता हुआ कल ही यहां पहुंचा हूँ। इस बीच सदा चलता ही रहा चलता ही रहा। बस समझ लीजिये "चरैवेति चरैवेति"। अतः, मैं अपनी ओर से कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं करता कि समय ही नहीं मिल सका कि सांस ले सकूं पत्र लिखने की बात कौन कहे। अब तो क्षमा करेगें न।

इस यात्रा में कुछ खोया भी तो पाया भी कम नहीं। कहना तो यही चाहिये कि खोया कम, पाया अधिक। नहीं खोया कहां, पाया ही। क्योंकि मनुष्य कुछ खोकर ही प्राप्त करता है। खोना भी प्राप्ति-प्रक्रिया की एक कड़ी ही है। मैं बड़ा ही सतर्क प्राणी हूँ, यात्रा में तो रत्ती रत्ती चीजों का हिसाब रखता हूँ कि कहीं कोई चीज खो न जाय। पर यह चीज ऐसी कि खो ही जाती है। इस खोने का रहस्य क्या है? उस दिन सुहृद्वर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के यहां मेरी अंगोछी क्यों छूट गई! क्या जरूरत थी उसे छूट जाने की? क्या उसे छूटे बिना काम नहीं चल सकता था? पर जब विचार करता हूँ तो पता चलता है कि इस भूल, या चूक, जो कह लीजिये, का [illegible] मनोवैज्ञानिक रहस्य है। वास्तव में वह अंगोछी छूटी नहीं मैंने ही [illegible] मेरे चेतन में नहीं तो उपचेतन में कहीं यह भावना अवश्य हुई [illegible]

कि मैं सदा द्विवेदी परिवार में बना रहूं, कभी भी अलग न होऊँ और उनके तथा उनके परिवार के स्नेह की दरिया पर मौजों से बहा करूँ। चतुर्वेदी जी, आप तो यह बात मानते हो कि ससार की कटुता से त्रस्त मानव के हृदय में इस तरह की भावना उत्पन्न होती ही है और इस शुष्क मरुभूमि में जहां भी वह मलय का सचार पाता है कि वह वहीं रम जाना चाहता है, तल्लीन हो जाना चाहता है। जब मतिराम ने यह कहा कि—

होत रहे मन मे मतिराम, कहीं बन जाय बड़ी तप कीजे
ह्वै बनमाला हिये लगिये ह्वै बँसुरी अधरारस पीजे

तो शायद इन लोगों का हृदय भी कुछ इसी तरह के भावों से ओत प्रोत था। पर वे कवि थे, उनकी प्रतिभा और कल्पना अपने भावों को अमर बना कर उन्हें मानव हृदय की चिरस्थायी सम्पत्ति बना सकती थी पर मैं हूँ जिसे एक पत्र लिख कर ही सतोष कर लेना पड़ता है।

मनोविज्ञान की एक बड़ी ही प्रसिद्ध पुस्तक है साइको पाथालॉजी आफ एवरी डे लाइफ। यह नेकनाम कहिये या बदनाम, मनोवैज्ञानिक फ्रायड की लिखी हुई है। उसमें उसने बड़े ही सरल तथा विश्वासोत्पादक ढग से यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि हमारे जीवन की कोई भी क्रिया, चाहे वह बाह्य दृष्टि से देखने में सहज तुच्छ ही क्यों न मालूम पड़ती हो बिना उद्देश्य के नहीं होती, सब के मूल में किसी न किसी उद्देश्य की प्रेरणा होती है। यह सोद्देश्यता तो हमारी छोटी छोटी भोली भालो सी लगने वाली भूलों जिन्हें लोभ की फिसलन कहकर सतोष कर लेते हैं, के लिये विशेष रूप से लागू होती है। आप किसी सभा में किसी प्रस्ताव के समर्थन करने के लिये खड़े हुए, पर बोल गये उसके विरुद्ध, आप अपने मित्र के स्वागतार्थ आगे बढ़े और उसे आलिङ्गनपाश में आबद्ध करते ही हैं कि आप की कलम की नोंक उसकी छाती में गड़ गई, आप किसी से पुस्तक माग कर पढने के लिये लाये वह खो गई। ये बातें देखने में सहज आकस्मिक मालूम पड़ती हों मानो सयोग से घटित हो गई हों पर बात इतनी सी नहीं है। आप उस प्रस्ताव के विरुद्ध थे, मित्र के आगमन पर आप प्रसन्न नहीं थे और हो न हो उस पुस्तक को आप खो देना चाहते थे। पर इन बातों को अपने मस्तिष्क के

चेतन स्तर पर आने देने से मनुष्य की सभ्यता और शिष्टता को ठेस लगती है, वह अपनी ही नजरों में गिरने लगता है। अतः वे दमित होकर उपचेतन में चली जाती हैं और वहीं से हमारे जीवन प्रवाह में व्यतिक्रम उपस्थित करती रहती हैं। उसी पुस्तक में फ्रायड ने अपने जीवन की एक बडी मनोरंजक घटना का उल्लेख किया है। एक दिन वह बाहर से आकर अपने अध्ययन कक्ष में प्रवेश करता ही है कि उसके हाथ के झटके से लग कर उसकी दावात चूर चूर हो गई। फ्रायड एक बड़ा ही अनुशासित व्यक्ति था, वह अपनी सारी चीजों को खूब सम्भाल कर व्यवस्थित ढंग से सजा कर रखता था और उसके कमरे को पठन पाठन के अनेक वस्तु-जातों से ठसाठस भरे रहने पर भी आज तक कभी इस तरह की घटना नहीं घटी थी। अन्त में अपने मनोविज्ञान के विश्लेषण के द्वारा वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वह दावात टूटी नहीं पर उसने उसे तोड़ दी। उसके हाथ का झटका लग जाना "प्रयोजनमनुद्दिश्य" नहीं था सप्रयोजन था, सोद्देश्य था, भले ही वह प्रयोजन चेतना के स्तर पर तैरता नहीं हो। इस घटना के एक दिन पूर्व ही उसकी बहन उससे मिलने आई थी। फ्रायड बड़े उत्साह से उसे अपने अध्ययन कक्ष की सजावट दिखलाने के लिये ले गया था। वह महिला बहुत प्रसन्न हुई पर कहा कि यह दावात इस स्थान पर न हो कर दूसरे स्थान पर रख दी जाय तो कमरे की सुन्दरता में चार चांद लग जांय। तब से फ्रायड अपने प्रति तथा उस दावात के प्रति असहिष्णु हो उठा। उसने अपने को दण्डित किया अपनी अंगुलियों का रक्त बहा कर और दावात की तो जान ही लेली। अतः मैं सोचता हूँ कि बंधुवर द्विवेदी जी के यहां मेरी अंगोछी का छूट जाना मेरे लिये मनोवैज्ञानिक आवश्यकता नहीं थी क्या? आप यदि ध्यान से देखें तो पायेंगे कि आप के यहां सी मेरी कोई चीज अवश्य छूट गई होगी। भले ही वह कागज का टुकड़ा हो। जितनी तुच्छ महज नाचीज सी दीखने वाली वस्तु उतनी ही उसका मनोवैज्ञानिक तथा सांकेतिक महत्व। अटपट गति मनोविज्ञान की!

और मैं आप से पूछूं और अपने से भी कि वह छोटी सी अंगोछी ही क्यों छूटी! मेरे पास तो बहुत सी चीजें थी। बहुमूल्य से बहुमूल्य और अल्प से भी अल्पमूल्य। पर उस अंगोछी को ही क्या सूझी कि वह घुड़मुड़िया कर रह ही तो गई? इसका भी एक मनोवैज्ञानिक रहस्य है। कुछ ही दिनों पूर्व एक प्राकृतिक चिकित्सा की पुस्तक में पढा था कि रुखडे कपड़े से शरीर की त्वचा पर शुष्क संघर्षण करने से त्वचा स्वस्थ होती है और शरीर की

कान्ति बढती है। बस क्या था, झट से एक खूब मोटी और खुरदरी अगौंछी खरीदी और रगड़ना प्रारम्भ किया। त्वचा की कान्ति बढी या नहीं यह तो राम जाने या देखने वाले जानें पर इतना तो अवश्य है ही कि उस अगोछी में मेरे जीवन का एक बहुत बडा सूक्ष्म अंश छन कर आ ही गया होगा। अर्थात् मेरा अथवा मेरे जीवन का सब से सच्चा प्रतिनिधित्व करने की क्षमता यदि किसी चीज में थी तो उसकी गर्वीली अधिकारिणी यह अगोछी ही थी। अत वही छूटी और कोई दूसरी वस्तु नहीं। दूसरे शब्दों मे यह छूट क्रिया अपने सांकेतिक रूप मे इस बात का द्योतन करती है कि मैं जान बूझ कर वहा अपने को छोड आया हूँ भले ही मेरा शरीर जोधपुर चला आया है। सच कहता हूँ

"जो मैं रहितो बन की कोइलिया
कुहुक रहितो राजा तोरे बगले में"

काश यदि मैं कोइल रहता तो द्विवेदी जी के बगले में जाकर कुहुकने से कोई मुझे रोक सकता था भला। पर मनुष्य का भाग्य कोइल जैसा भी नहीं है। अत उसे अपनी लगोटी या अगोछी छोड कर ही सतोष कर लेना पडता है।

खैर, कहा कहा कौन सी चीज छूटी और इसी बहाने से अपने जीवन के टुकडों को कहा कहा किस किस रूप में बिखेर आया यह मेरे आन्तरिक भावात्मक और रागात्मक जीवन की बातें हैं। इस पागलपन को दुनिया कहां समझ सकी है। हृदय के कुरेद को उखाड़ कर वहा की लाली को मनुष्य स्वय देख ले, या अपने मित्रों को दिखाने पर कार्य व्यस्त आज के युग मे दूसरों को इसे देखने की कहा फुरसत है। अत, आइये देश की उन्हीं प्रचलित समस्याओं की चर्चा करें जिन्हें लेकर आज कुछ चहल पहल है, लोगों में थोड़ी सरगर्मी भी है और लोग जिन्हें अपने सास्कृतिक तथा सामाजिक जीवन के लिए महत्वपूर्ण समझते भी हैं।

मेरे जानते भारत के स्वातन्त्र्योत्तर काल में जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना घटी है वह हिन्दी की राष्ट्रभाषा के रूप मे औपचारिक स्वीकृति। सम्पूर्ण देश ने अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से बहुत कुछ त्याग कर भी हिन्दी को इस सिंहासन पर बैठाया है। इस तरह की उदारता, त्याग और ऐक्य भावना का उदाहरण ससार के इतिहास मे भी विरल है। पर हमें चिंता इस बात की है कि हिन्दी जिस पद पर प्रतिष्ठित हो गई है

उस गौरव के अनुरूप उसमें सामर्थ्य तथा योग्यता जल्दी आ जाय, उसका साहित्य इतना समृद्ध हो कि इस विशाल देश के विशाल जन समूह के हृदय तथा मस्तिष्क के लिये उचित खुराक जुटा सके। यह कोई साधारण बात नहीं। जन संख्या दृष्टि से भी भाषाविदों ने हिसाब लगा कर देखा है कि विश्व की भाषाओं में हिन्दी का नम्बर दूसरा या तीसरा ही आता है। ऐसी सूरत में हम हिन्दी के हिमायतियों पर एक बहुत बड़ी जिम्मेवारी आ जाती है। हमारे द्वारा जान में या अनजान में कोई भी ऐसी बात नहीं हो जिसमें हिन्दी की मर्यादा की क्षति हो, लोगों को उसके प्रति कान खड़े कर सशंक दृष्टि से देखने का अवसर मिले।

सशंक दृष्टि से देखने की जो बात कही उसका एक ताजा उदाहरण मेरी आंखों के सामने है। हमारे यहां की एक मात्र हिन्दी की प्रतिनिधि संस्था कुमार साहित्य परिषद् का पांचवां अधिवेशन जैतारण में अभी ही सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ है। आप तो आ नहीं सके इसका खेद हम लोगों को बहुत रहा। वहां विचार गोष्ठियों का आयोजन था और कवि सम्मेलनों का भी। बड़े बड़े नगरों तथा शिक्षा केन्द्रों से तो शायद कवि सम्मेलनों का युग लद गया। उस दिन हिन्दू विश्व विद्यालय काशी के एक छात्र ने कहा कि हमारे यहां तो कोई किसी की कविता को सुनता ही नहीं, हिन्दी के कवि लोगों ने तो कवि सम्मेलन से तोबा कर रखा है। हां, भोजपुरी के कविगण कविता पढ़ते हैं। पर जैतारण जैसे छोटे छोटे शहरों में जहां जागृति की किरण स्वातंत्र्योत्तर युग में ही प्रवेश करने लगी है वहां, ऐसा लगता है, कवि सम्मेलनों की अभी भी उपयोगिता है। जैतारण के कवि सम्मेलन में एक बात देखने में यह आई कि वहां पर हिन्दी से राजस्थानी कवितायें ही अधिक पढ़ी गईं। यह भी देखा गया कि लोगों में यह प्रवृत्ति है कि कवितायें तरन्नुम के साथ गाकर पढ़ी जांय। प्र० गणपति चन्द्र भण्डारी ने अपनी कविता साहित्यिक गोष्ठी में गाकर सुनाई तो मैंने अपनी टिप्पणी देते हुए कहा कि अनुमान तो यही होता है पहले संगीत ही उत्पन्न हुआ होगा। कविता उसके ही गर्भ से निकली होगी। पर कविता की प्रगति के इतिहास को देखा जाय तो वह संगीत से उत्तरोतर स्वतंत्र होते रहने का इतिहास है और आज तो वह पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा कर चुकी है। तब यह समझ में नहीं आता कि कौन सा आपत्काल आज यहां उपस्थित हो गया कि कविता संगीत के यहां भीख मांगने चली गई। मैंने उनसे निजी तौर पर एकान्त में पूछा कि यहां जो राज-

स्थानी कविताओं की भरमार है और हिन्दी को कोई पूछता ही नहीं अथवा हिन्दी में जो कवितायें पढ़ी जाती हैं, केवल एक दो नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह उसे क्या आप प्रशंसात्मक दृष्टि से देखते हैं? क्या हिन्दी के प्रचार में इससे बाधा नहीं पड़ेगी? दूसरी बात, कि आजकल जो राजस्थानी जोधपुर में बोली जाती है तथा पत्र पत्रिकाओं में लिखी जाती है उसमें और हिन्दी में अन्तर ही क्या है? "मैं कह रियो हूँ" और "मैं कह रहा हूँ" में क्या अन्तर है। क्यों नहीं ऐसा प्रयत्न हो कि आगे चल कर, कहिये एक शताब्दी बाद, राजस्थानी हिन्दी में घुल मिल कर एक हो जाय और हम अपनी लक्ष्य प्राप्ति का एक बहुत बड़ा मंजिल पार करें। भिन्न भिन्न भाषाओं, व्यवहारों, रिवाजों, संस्कृतियों में बिखरे इस देश की एकता के सूत्रों को दृढ़ करना भी तो हमारा उद्देश्य है न। क्षेत्रीय भाषायें पनपें, अपनी सभ्यता ऊंची से ऊंची करें नक उठ सकें यह सब चाहते हैं पर राष्ट्रभाषा पर छा जाँय और उससे हिन्दी के प्रचार में बाधा हो इस बात को हम शान्तचित्त हो कैसे देख सकते हैं? इसके उत्तर में उन्होंने कहा, उपाध्यायजी, बात तो आप ठीक कहते हैं पर हिन्दीवालों की उपेक्षा ने ही इस प्रवृत्ति को जन्म दिया है। कहीं भी हमारी पूछ नहीं होती सब स्थानों में हमारी अवहेलना होती है। चतुर्वेदी जी, मैं नहीं जानता कि इनकी क्या उपेक्षा होती है। पर यदि हमारे प्रमाद से इन्हें ऐसा समझ लेने का अवसर मिल जाता हो तो इसका हमें प्रतिकार करना चाहिये। दक्षिण भारत के कुछ लोग तो ऐसा कहते ही थे पर राजस्थान के लोग ऐसा क्यों कहें! हिन्दी को आज इस गौरव के दिनों में एकदम नम्र हो कर चलना है, मानव की नन्ही दूब की तरह जो जेठ की दुपहरी में भी, जब और घास पात जल जाते हैं, तब भी, खूब की खूब बनी रहती है। हिन्दी अपने को हर तरह से समृद्ध बनाये, सर्वगुण सम्पन्न बने, ज्ञान और विज्ञान के उच्चातिउच्च विचारों की वाहिका बने पर जहां वह गर्व विदुर्दग्ध होगी अपने पतन की नींव डालेगी।

वास्तव में बात तो यह है कि हमें स्वयं हिन्दी के प्रति दृढ़ आस्था और निष्ठा नहीं है। अंग्रेजी की मानसिक दासता से हम अभी भी मुक्त नहीं हो सके हैं, हम मन ही मन समझते हैं कि हिन्दी विन्दी में कुछ धरा नहीं है पर हां, इसके पक्ष की वकालत करने से कुछ स्वार्थ की सिद्धि हो जाती है। अतः चलो इस का साथ दे दिया जाय। यह हिन्दी के क्षेत्र की ही बात नहीं, सर्वत्र यही मनोवृत्ति काम कर रही है। मुजफ्फरपुर से पटने आ रहा था तो

एक नवोद्घाटित बुनियादी तालीम शिक्षा केन्द्र के अध्यापक से मुलाकात हुई। मैने पूछा—

'अच्छा यह तो बतलाइये 'यह जो बुनियादी तालीम है उससे देश को कोई वास्तविक लाभ हैं ?" उत्तर मिला भाई, इससे किसी को लाभ बाभ नहीं है। मैं तो केवल बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिये ही इसमें घुसा हूँ।" भला कोई संस्था इस तरह के कार्यकर्त्ताओं के सहारे कितने दिनों तक टिक सकती है। हमें तुलसी के चातक की निष्ठा वाले व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो नम्रता से रह कर दृढ़ता के साथ तपोनिष्ठ हो अपने लक्ष की ओर उन्मुख रहें। जब इलाहबाद में था तो एक बड़ी प्रतिष्ठित हिन्दी हितैषिणी संस्था के मन्त्री से मुलाकात हुई। धीर गम्भीर चेहरे से बुजर्गी टपकती हुई। उनके साथ जो वार्तालाप हुआ उसका एक अंश सुनिये—

"व्हाट वाज दी सबजेक्ट आफ योर थीसियस !"
"आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान"
"अैजएमैटर आफ फैक्ट इट शुड नाट हैव बीन
ए सबजेक्ट आफ ए थीसिस।"

'क्यों?'

"क्यों क्या ! आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में है ही क्या।"

"माना कि कुछ भी न हो, पर यह कहने भर के लिये और उसकी त्रुटियां दिखलाने के लिये भी लेखक में गुर्दा होना चाहिये। कालीदास का जन्म काश्मीर में हुआ या उज्जयिनी में, तुलसीदास राजपुर के थे या सोरों के, उन्होंने १० ग्रंथ लिखे या १५ यही तो रिसर्च नहीं है न। वह युग तो शायद बीत गया कि "जीवित कवेराशयो न वक्तव्यः।"

चतुर्वेदी जी, मुझे कहने दीजिये कि इस तरह की हीनता-ग्रंथि बड़ी ही घातक सिद्ध हो सकती है और हो रही है। इस तरह के व्यक्ति फिफथ कालमिस्ट हैं जो गढ़ में रह कर अन्दर से मोर्चों को कमजोर कर रहे हैं। और जो कुछ हो हिन्दी का कथा साहित्य दरिद्र नहीं है। आज उसमें ऐसे ग्रंथ मौजूद हैं जो विश्व के कथा साहित्य में आदर का स्थान पा सकते हैं। पर हमने तुलसी की तब तक कद्र नहीं की जब तक ग्रियर्सन ने हमारा ध्यान उनकी ओर आकर्षित नहीं किया। और तिस पर भी "किमतः आश्चर्यम् परम्" कि ये ही लोग है हेमिंग्सवे, फकनर, अन्द्राजीद, मार्शल

पुस्ट इत्यादि के उपन्यासों की प्रशंसा गाते अघाते नहीं। मैं तो इतने दिनों से अंग्रेजी का अध्ययन कर रहा हूँ, गणित, विज्ञान, इत्यादि पुस्तकों को समझ भी लूं पर उपन्यास, कहानी या कविता पढ़ते तो एक कि दुर्लंघ्य बाधा का सामना करना पडता है। ऐसा मालूम होता है कि शब्द अपनी छाती फाड कर मेरे सामने नहीं रख देते, हो न हो हमें विदेशी समझ कर आत्मदान में कृपणता करते हैं और मैं उच्च कोटि के रसास्वादन से वंचित ही रह जाता हूँ। मुझे उन लोगों की बात समझ में नहीं आती जो यह कहते हैं कि मैं तो अंग्रेजी साहित्य पढ़ने में इतना तल्लीन हो जाता हूँ मानों सब कुछ जाना ही सुना हो, अपना हो। मुझे तो रविबाबू की इस उक्ति को सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि वे बंगला भाषा को छोड अन्य भाषा के शब्दों के वातावरण के साथ पूर्ण रूप में तन्मयता का अनुभव करने में अपने में वे अपने को अक्षम पाते हैं। चतुर्वेदी जी, ऐसी अवस्था में इन तथाकथित हिन्दी साहित्यसेवियों को क्या कहूं ! और तो और हिन्दी के सब साहित्य सेवी अंग्रेजी में ही बातचीत करने तथा बात बात में विदेशी लेखकों का हवाला देने में ही गर्व का अनुभव करते हैं। *क्षमा कीजिये कि हम और आप भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं।* मैं जहां भी गया, चाहे दिल्ली में, बनारस में, इलाहबाद में पटने में, वहां कुछ महान् अपवादों को छोड कर, सबों में अंग्रेजी में बातचीत करने की प्रवृत्ति देखी। पत्र व्यवहार की भाषा, कहा जाता है, हृदय के भावों की निश्चल अभिव्यक्ति होती है पर आप जैसे मित्रों का भी पत्र व्यवहार में अंग्रेजी ही अपनाते देखता हूं तो यही मुख से निकलता है "हा, हन्त मनस्विता"।

हिन्दी साहित्य बहुत तेजी के साथ प्रगति कर रहा है। और वह आज बहुत आगे बढ गया है कि लेखक गण उसके साथ पैर से पैर मिला कर चल नहीं पाते। यही कारण है कि आज पत्र पत्रिकायें तो निकल रही हैं पर लेखक नहीं मिल रहे हैं। मिले भी क्यों कर ! आज हिन्दी में लिखने के लिये तथा उसमें आदरणीय होने के लिये अधिक प्रतिभा की आवश्यकता है ज्ञान सम्पन्नता तथा अध्यवसाय की आवश्यकता है। यह बात हमारे लेखक समझते हैं और इस अरुचिकर परिस्थिति का सामना करने के लिये उन्होंने एक नया मार्ग ढूँढा है। अर्थात् हिन्दी का क्षेत्र छोड कर ... जनपदी भाषाओं की गलियों में प्रभात फेरी लगाना प्रारम्भ कि... ऐसी परिस्थिति है कि पुरानी पूंजी से ही काम चला ... नाक भी बची रह सकती है। न हल्दी लगे न ...

राजस्थानी या भोजपुरी प्रेम की बाढ़ आने की बात कही है उसके मूल में अधिकतर यही मनोवृति काम कर रही है। उस दिन मैंने अपने प्रोफेसर मित्र गणपतचन्द भण्डारी से पूछा कि भाई आप को क्या सूझी कि गाकर कविता पढ़ने लगे, उत्तर मिला "हां, आप की आपत्ति उचित है। पर एक बात है। राजस्थानी कविता बिना गाये..............." चतुर्वेदी जी, यहीं चोर पकड़ा गया। इसका अर्थ यह होता है कि राजस्थानी साहित्य उतना समृद्ध नहीं है, उसकी कविताओं में इतनी शक्ति नहीं आई है कि वह संगीत को छोड़ कर जीवन धारण कर सके। अतः इधर उधर से नोच चोथ की पल्लव ग्राहिता से इस क्षेत्र में रोब गांठा जा सकता है। इस क्षेत्रीय भाषा के मूल में जो पालायनवादिता काम कर रही है उसे मैं बड़ी ही मशकूक नजरों से देख रहा हूं। यह एक ऐसी वस्तु है जो आगे चल कर हमारी नैतिक शिराओं को निर्बल बना देगी।

पत्र लम्बा हो गया है। कहने को बहुत रह गया। मन में जो बात आई, निस्संकोच कह डाली। सोचा कि आपके सामने हृदय न खोलूंगा तो किसके सामने ऐसा कर सकूंगा। आशा है आप स्वस्थ हैं। अपने स्वास्थ्य का समाचार दें। चिन्ता

विनयावनत

असुविधा का उपयोग

१६४४ या ४६ की बात है। रघुवर मोहनसिंह जी सेंगर से विशाल भारत के दफ्तर में मुलाकात हुई। मैं उस समय बड़ी ही चिन्ता में था और इस उद्देश्य से कलकत्ते गया था कि कहीं सुनने में सहायता देने वाला विद्युत यन्त्र मिल जाय तो खरीद लूं और उससे सुनने में सहायता लूं। अपनी श्रवण शक्ति के उत्तरोत्तर प्रगतिशील ह्रास ने मेरे सामने नैराश्य का अन्धकार उपस्थित कर दिया था। कहीं से कुछ भी आशा नहीं दीख पड़ती थी। सोचता था कि कहीं कालिज के प्रिन्सीपल महोदय की वक्र दृष्टि हुई और उन्होंने मेरी बधिरता की रिपोर्ट कर दी तो प्रोफेसरी से भी हाथ धोना पड़ेगा। फिर तो बधिरता से अभिशप्त मनुष्य के लिये कहीं जीविकोपार्जन का ठौर नहीं रह जायेगा। सचमुच अन्दर से मुझे बेचैनी थी। आज तो मैंने अपनी बधिरता के साथ समझौता कर लिया है और इसके बोझ को लिये लिये भी आगे चलने की बात सोचता हूँ पर उस समय घाव ताजा था, चोट से तिलमिला जाता था। भगवान के इस निष्ठुर विधान को मैं सारी शक्ति लगाकर उलट देना चाहता था। भाई सेंगर जी का हृदय मेरी इस व्याकुलता से द्रवित हो उठा और उन्होंने बड़े ही आर्द्र-कण्ठ से कहा "उपाध्याय जी, आप इतने अधीर क्यों हो रहे हैं, अन्दर से हताश क्यों होते जा रहे हैं, चलिये मैं आपको प्रोफेसर राय से मुलाकात कराऊं, वे यहीं कलकत्ता विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक हैं, अन्धे हैं, अमेरिका दो चार हो आये हैं, इतने प्रसन्न रहते हैं कि उनकी प्रसन्नता सकामक बन कर दूसरों को भी लग जाती है।" मैं उनसे मिलने गया। साथ में सेंगर जी भी थे। परिचय तथा थोड़े शिष्टाचार के उपरान्त इस व्यक्ति ने अट्टहास करते हुए पूछा 'यदि आप बधिर हैं, कुछ सुन ही नहीं सकते, तो पढ़ाते कैसे हैं ? यह बात उस व्यक्ति ने इस

स्वाभाविक ढंग से क़ही कि मानो मैंने कालीदास की कल्पना से देखा कि वहां शिव का अट्टहास पूंजीभूत बन कर एक शुभ्र ज्योत्सना स्नातहिमगिरि का रूप धारण कर लिया। मेरी दादी एक कहानी कहा करती थी। एक रानी थी, हंसेत लाल झरे, रोवेत मोती झरे "रानी की हंसी से लाल झरे हों यह एक कल्पना हो सकती है पर इस हंसी से, सचमुच मैंने देखा कि, उस कमरे में लाल हम लोगों की आंखों तले बिखर गये। मुझे न जाने क्या सूझी, मैंने आव देखा न ताव, कहदिया "यदि आप चक्षु-हीन होकर सफल अध्यापक हो सकते हैं तो एक बधिर बेचारे ने क्या किया है"। इस पर सेंगर जी तथा अन्य एक दो व्यक्ति वहां बैठे थे। हंसते-हंसते लोट पोट हो गये कि ठीक ही तो हैं जैसा दृष्टि-हीन वैसा श्रुति हीन।

प्रोफेसर राय से बहुत देर तक बातें होती रहीं, मेरा मन यह जानने के लिये उत्सुक था कि उनके इस आनन्द का श्रोत कहां है, कौन सी ऐसी शक्ति है जो उनको अन्दर से थामे हुई है, अभिशाप को भी उन्होंने वरदान बना लिया है। अनेक प्रश्न मैंने किये "हाजरी कैसे लेते हैं, क्लास में अनुशासन का स्थिति सम्पादन किस तरह से करते हैं, दर्शन के क्षेत्र में जो प्रतिदिन विकास हो रहा है उसकी अवगति कैसे प्राप्त करते हैं, मैंने सुना है कि प्रकृति में क्षतिपूर्ति Compensation की प्रक्रिया सदा चलती रहती है अर्थात मनुष्य की एक शक्ति का ह्रास हो जाता है तो दूसरी शक्ति में विकास हो जाता है, आप अपनी चाक्षुप शक्ति के ह्रास से किसी और शक्ति में विकास का अनुभव करते है? अन्तिम प्रश्न के उत्तर में उन्होंने यही कहा कि यदि मनुष्य को किसी अभाव की अनुभूति होती है तो अन्य उपायों द्वारा संघर्ष कर उस कमी को दूर करने की उसमें प्रेरणा जगती है और वह उस अभावजन्य कमी को अपने प्रयत्नों द्वारा दूसरी शक्ति को विकसित कर पूरा करना चाहता है। इसी प्रयत्न के परिणाम स्वरूप उसे कुछ सिद्धियां प्राप्त हो जाती है। ऐसा तो मैंने कभी अनुभव नहीं किया कि अन्धे हो जाने मात्र से मुझ में और कोई शक्ति विकसित हो गई है। वास्तव में प्रधान वस्तु है प्रयत्न, बस प्रयत्न की राह में जो मिल जाय।

अन्त में चलने के समय प्रो० राय ने पूछा कि कौन ज्यादा handi capped मैं या आप? मैंने कहा यह निर्णय करना तो कठिन है पर हां इतनी प्रेरणा आपसे लेकर जारहा हूँ कि यदि आप अपने जीवन को समाज और देश के लिये उपयोगी

बना सकते हैं तो मेरे लिये भी अवसर की कमी नहीं है। मेरी लगन, तपस्या
तथा प्रतिभा में जो कमी हो। वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य के जीवन का
अत्यधिक अंश इस हेतुहेतुमद्भूतत्व मे जाता है अर्थात् इस बात पर सोच
विचार करने और विसूरने मे लग जाता है कि हाय रे यदि ऐसा होता तो
ऐसा हुआ रहता, यदि मुझमें अन्य लोगों की तरह साधनसम्पन्नता होती तो
मैं अपने जीवन मे अधिक यशस्वी होता, तथा द्रव्योपार्जन करता। यदि मैं
अन्धा नहीं होता अथवा बहरा नहीं होता या अस्वस्थ नहीं रहता अथवा
अन्य किसी तरह से अभावग्रस्त नहीं रहता तो आज मैं और कहीं ऊंचा
उठा होता। यह नहीं होता कि जो कुछ उसके पास है उसी को लेकर अन्दर
से साहस भर कर और ऊपर भगवान को देखता वह बढ चले। कितने नव-
युवक ऐसे हैं जिनका सारा यौवन-काल इसी सोच विचार में लग जाता है कि
वे भाग्य से अधिक सम्पन्न परिवार मे जन्म ग्रहण किये होते तो वे अपनी
परीक्षा में या अन्य क्षेत्रों मे अधिक से अधिक सफल हुए होते। वे यह भूल
जाते हैं कि संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो पूर्ण रूपेण साधन सम्पन्न हो
और जिसमें किसी तरह का अभाव न हो। प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे एक
मर्ज ऐसा है जो लाजवाब या लाइलाज है और जिसे लेकर बेचैन रहना ही
पडता है। इस चलती चक्की को देख कर कबीर रो पडे थे कि दो पाटन के बीच
कोई भी साबित नहीं गया। ऐसी सूरत में अध्रुव के लिये भटकते रहने के
बजाय ध्रुव को लेकर चल पडने के सिवाय मनुष्य के लिये कोई रास्ता नहीं है।

आगे बढ कर हीनता या अभाव पर झींकते रहने वाली मनोवृत्ति का
विश्लेषण किया जाय तो मालूम होगा कि मनुष्य को व्याकुल तथा बेचैन कर
देने वाली वस्तु अभाव रूप नहीं है, भाव रूप है। वह इस बात से दुखी नहीं
रहता कि उसके पास कोई अभाव क्यों है, कोई विशेष पदार्थ और शक्ति
उसके पास क्यों नहीं है परन्तु उसके दुःख का कारण यह है कि दूसरों के
पास वे पदार्थ क्यों है, क्यो अन्य मनुष्य ऐसे सुखों का उपभोग कर रहे हैं जब
कि वह सर्वथा वंचित है। एक विद्यार्थी परीक्षा मे असफल हो जाता है, वह दुख
से व्याकुल है, जीवन का भार उसके लिये दुर्वह हो उठा है, जब वह दूसरे
असफल विद्यार्थी को देखता है उसके हृदय में शांति होती है। मैं अपनी बात
कहूँ। आजकल कार्ल मार्क्स तथा साम्यवाद का बोल बाला है, आज का कोई
अनुष्ठान तब तक पूरा नहीं होता जब मार्क्स तथा उसके दो चार भारी भरकम
फिकरे लबों पर न हों। क्लास मे किसी विषय पर व्याख्यान देते समय समाज

में धन के समान वितरण की बात चली। मैंने कहा 'देखो जी, तुम्हें इस बात का दुख थोड़े ही है कि तुम्हारे पास संपत्ति नहीं है, तुम दुखी तो इसलिये हो कि तुम्हारे साथी के पास तुमसे अधिक क्यों है ? मेरे मित्र प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी जी ने पूछा "उपाध्याय जी,आप अपनी वधिरता को लेकर दुखित रहते होंगे ? मैंने कहा त्रिपाठी जी, "मुझे इस बात का दुख थोड़े ही है कि मैं बहरा हूँ, दुख तो इसी बात का आप में सुनने की शक्ति क्यों वर्तमान है। यदि आप भी बहरे हो जांय या सारी दुनियां ही बहरी हो जाय तो मेरे सुख का क्या ठिकाना ? क्या आप मेरे लिये इतना त्याग कर सकते हैं ? "वास्तव में यह तो Ego की प्रबलता का प्रश्न है, जिसका Ego जितना ही प्रबल होगा उस जीवन में दुख की उतनी अधिक अवस्थिति होगी। मनुष्य अपने को उन्नत करना चाहता है, वह दूसरों से बढ कर रहना चाहता है। किसी व्यक्ति को भगवान ने वरदान दिया कि तुम्हें इच्छित वस्तु प्राप्त हो जायेगी पर जितनी तुम्हें प्राप्त होगी उससे दूनी मात्रा में तुम्हारे पड़ोसियों को प्राप्त हो जायेगी। वह कहां गया था जीवन को सुखमय बनाने, जीवन कांटों की सेज बन गया। उसके पास लाखों रुपये, अनेक महल, तथा एकाधिक मोटर गाड़ियां। पर इन सुख साधनों का महत्व ही क्या जब अन्य लोगों के पास उससे दुगुनी सामग्री उपस्थित हो जाती है। बस उसने भगवान से वर मांगा कि हे भगवन, मेरी एक आंख फूट जाय। बस क्या था, उसकी एक आंख तो फूट गई पर उसके पड़ोसियों की दोनों आंखे जाती रहीं। यद्यपि वह एकाक्ष होगया, पहिले से उसकी अवस्था बदत्तर रही पर चूंकि वह अपने पड़ोसियों से बेहतर तो रहा यह जानकर उसके हृदय को अपार शांति मिली।

सारी मनुष्य जाति के दुख का कारण यही है कि वह स्वयं काना होकर भी दूसरों को अन्धा देखना चाहता है। यदि हम दूसरों की ओर न देख कर अपनी ओर देखना सीख लें और अपने साथ इमानदारी से काम लें तो हमारे जीवन की समस्या अनेक अंशों में हल हो जासकती है। मेरी वधिरता ने मुझे बहुत कुछ सिखलाया है। इसने दुनियां में झुककर चलना सिखाया हैं। इसने मुझे बतलाया है कि तन कर नहीं पर नम्र होकर क्षितितल पर बिखरे मोतियों को प्राप्त किया जा सकता है, जो जीवन के अन्दर से प्राप्त होने वाले पदार्थों से कम महत्वपूर्ण नहीं है, जीवन में तो यही देखा जाता है कि हम ६० प्रतिशत जो बातें करते हैं वे यों ही व्यर्थ मनोरंजन मात्र होती है। वे या तो कलह की होती हैं या व्यसन की। मेरे साथ बात करने वाले बस काम भर की

बातें करते हैं। असगत बात कर ही नहीं सकते क्योंकि उनमे उन्हें आनन्द आ ही नहीं सकता। लोग दूसरों की बुराई मुझ से नहीं कर सकते। डरते हैं कि कौन अपने विचारों को लिपिबद्ध रूप में देकर अपने को खतरे के लिये खुला छोड़ दे। एक दिन मेरे मकान मालिक मकान के किराये को बढ़ाने पर जोर देने लगे। मुझ से लिख लिख कर ही बातें हो सकती हैं न। बाद में जब उन्होंने अदालत द्वारा मुझे मकान छोड़ने की नोटिस दी कि अपने निजी उपयोग के लिये उन्हें उस मकान की आवश्यकता है तो मैंने उनके लिखित वार्तालाप को अदालत के सामने उपस्थित करने की बात सोची थी। अत इस तरह अपने को तथा अपने सहयोगियों को सतर्क रहने की शिक्षा देता हूँ। कितनी ही बार सुना कि मेरे अमुक मित्र की साईकल कालिज जाते समय दूसरे तांगे वाले या साईकल वाले से भिड गई। पर मेरी बहरी साईकल बेचारी इतनी नम्र होकर चलती है कि किसी दूसरे से कलह का अवसर ही नहीं आया। मेरे विद्यार्थियों की मेरे साथ मे सहानुभूति रहती है। अध्यापन कार्य मे मुझे उनका सहयोग सहज ही प्राप्त होता है। प्रथम दिवस जब मैं क्लास मे जाता हूँ तो मेरा पहिला लेक्चर अपनी बधिरता पर होता है। कहा है "दिखादो घर मुझे अपना, मेरा घर देखते जाओ" विद्यार्थियों का घर तो रहरह कर भी देखता रहता हूँ, उनको देखने की जल्दी नहीं रहती, पर अपने को दिखला देने मे मैं विलम्ब नहीं करता। मैं सोचता हूँ कि दुनिया को शांति की रक्षा का पाठ सिखाता हूँ, लोगों को कितने गुनाहों से बचाता हूँ, किसी अभाव में किसी तरह काम निकाल लेना होता है, इस फन का उस्ताद हूँ। क्या दुनिया को मेरा कृतज्ञ नहीं होना चाहिये ?

हाल ही की बात। मेरा कनिष्ठ पुत्र "बुलबुल बडा ही शैतान और नटखट है, अडोस पडोस के लोग उसके उधम से तग रहते हैं। स्कूल जाता है पर भाग कर चला आता है। मुझ से उसकी सबसे बडी शिकायत रहती है कि मैं उससे बातें क्यों नहीं करता? शायद मन मे समझता हो कि मैं उसकी बातों की ओर यथोचित ध्यान न देकर उसका अपमान करता हूँ। पर जब उसने अन्य लोगों को मुझ से लिख कर बातें करते देखा तो उसे लिखना सीख लेने का उत्साह जगा और उसने पन्द्रह दिनों में लिखना सीख लिया और मुझ से बातें करने की योग्यता प्राप्त कर लेने पर अपार प्रसन्न है। न जाने कितनी ही बातें करता है कि तग आजाना पडता है। एक दिन उसने स्लेट पर लिख कर दिखलाया "बाबूजी चूतिया," मुझे प्रसन्नता का ठिकाना न रहा, इस बालक

को अपने पावों के प्रवाह का कुछ मार्ग तो मिला। यह हो सकता है कि फ्रायड की एडिपश ग्रन्थि का एक प्रतिविम्ब मात्र हो। वह बालक मुझे एक प्रतिद्वन्दी के रुप में देखता हो, समझता हो कि उसकी मां की पूर्ण प्रेमोपलब्धि के मार्ग में मैं बाधा होता हूं और उसका मन मेरी तरह तरह की अनिष्ट कल्पना से भरा पड़ा हो। अच्छा ही हुआ, चलो वह भावना जो प्रवाहमार्गाभाव के कारण दमित होकर अनेक सड़ान्ध को पैदा करती वह दूर हो गई और बलुए में उसने लिखना भी सीख लिया। एक पत्थर से दो शिकार। क्यों है कि नहीं? हां कभी कभी ऐसे अवसर भी आते हैं जब कि मेरे हृदय में इस वधिरता के कारण थोड़ी वेदना का भी संचार होता है जब मेरे बन्धु वर्ग मुझे गलत समझ बैठते हैं। उनके कार्यों में उत्साहपूर्ण दिलचस्पी न लेने के कारण वे मुझे अहम्मन्य या पण्डित मान्य व्यक्ति समझने लगते हैं। एक दिलचस्प उदाहरण दूं। मेरे एक पटनहिये मित्र, पटनहिया क्यों छपरहिया कहिये, की शादी हुई थी। मित्र के नाते मैं उनके पत्नी से परिचय प्राप्त करने गया। उनसे कहा कि मैं सुन नहीं सकता। लिख लिख कर बातें करनी होगी। विचारी सीधी सादी गोर भभूका चुनमुनिया दिहाती विटिया थी। इस असाधारण परिस्थिति में पड़ जाने के कारण बड़ी घबड़ाई, कहने लगी "ये महोदय सचमुच सुनने में असमर्थ हैं या छल से वधिरता का बहाना कर परीक्षा लेना चाहते हैं कि मैं पढी लिखी हूँ या नहीं। मैंने मन में कहा कि एक कहावत है भोजपुरी में "धनिक के लडका भूख मुए लोग कहे कि कछले बा "अर्थात् एक धनिक व्यक्ति का लडका भूखों मर रहा था पर लोगों ने समझा कि यह बन रहा है, बातें बना रहा है। भला यह भी सम्भव है कि इसे खाने को न मिले। वही हालत मेरे बारे में होती है, जो लोग मेरे सम्पर्क में प्रथम बार आते हैं उन्हें आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता है कि मैं अध्यापन कार्य कैसे कर सकता होऊंगा। एक ऐसे ही सज्जन से हाल ही में सम्पर्क हुआ था जिनकी इस छोटी शंका ने बड़ी विचित्र और उलझन पूर्ण परिस्थिति पैदा करदी थी। पर उस दिलचस्प कहानी को आज नहीं कल कहूँगा। फिलहाल आज कल की इसी कहानी की पहली किश्त पर ही संतोष करें।

उत्तराधिकारी

हिन्दी के यशस्वी कथाकार यशपाल जी की यह नवीनतम कृति है। इसमें पहाड़ी जीवन से सम्बन्ध रखने वाली नौ कहानियाँ संग्रहीत हैं। किसी सृजनात्मक कृति के महत्त्व का निर्णय करते समय आलोचक के सामने एक ही प्रश्न उपस्थित होता है कि आलोच्य पुस्तक ने साहित्यिक परम्परा के विकास में कितना योग-दान दिया। अंग्रेजी में एक मुहावरा प्रचलित है Old wine in new bottle अर्थात् पुरानी बोतल में नई शराब। बोतल पुरानी सही परन्तु शराब यदि नई हो तो हमारे हृदय को सन्तोष हो जाता है—चलो एक नई वस्तु तो मिली। प्राचीन चर्वित-चर्वण वस्तुओं से, चाहे वे 'साधु सर्वम्' क्यों न हों, तबियत ऊब गई थी। चित्त में अश्रद्धा के भाव उत्पन्न होने लगे थे। अब इस 'अनवद्य नवम्' को लेकर हृदय की जकड़ खुलेगी, यहाँ नई वायु के संचार से प्राणों में स्फूर्ति आयगी। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र-जोशी तथा अश्क और यशपाल इत्यादि की कहानिया पढ़ लेने के बाद 'उत्तराधिकारी' में कौन-सी विशेषता है जो अपनी मौलिक शक्ति के बल पर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर सके। मैंने कहा, यशपाल की कहानियों को पढ़ लेने के बाद, और यह जानबूझ कर कहा। इसलिये कहा कि अपने में वह थोड़ी तटस्थता आ सके कि यदि 'उत्तराधिकारी' का लेखक यशपाल न होकर अन्य व्यक्ति होता तो भी 'ज्ञानदान' से लेकर 'फूलों का कुरता' की कथा शृङ्खला में यह कौन-सी और कैसी आगे की कड़ी है, इस दृष्टिकोण से विचार कर सकूँ। यदि कोई नया कथाकार होता अथवा एकदम नया न होकर कथा-क्षेत्र में बस दो एक पग उठाने वाला ही नौसिखुआ कलाकार होता तो हम इस दृष्टि से भी विचार कर सकते थे कि इस नये लेखक में प्रौढ़ता भले ही न हो पर देखें कि इसकी निजता कितनी है और उसमें कितनी शक्ति

(Potentiality) है जो आगे चलकर एक महत्वपूर्ण वास्तविकता का रूप धारण कर सकती है। इसमें वह बीज है जो भविष्य में प्रच्छायशीतल अस्वत्थ वृक्ष का रूप धारण करेगा ? या रह जायगा बस कुकुरमुत्ता होकर ? पर 'उत्तराधिकारी' का लेखक तो एक मँजा हुआ खिलाड़ी है, कथा के क्रीड़ा-क्षेत्र में इसके कुछ ऐसे स्ट्रोक्स हैं कि दर्शक के मुख से अनायास ही हर्ष-ध्वनि निकल पड़ती है, कि कहीं स्मित हास से, कहीं अर्ध-हास से, 'साध्व कष्टमेव च' से, कहीं "प्रवृद्ध नाद" से इनके कथा-साहित्य का स्वागत हो चुका है।

यह कहने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं कि 'उत्तराधिकारी' की कहानियाँ दैनिक जीवन की कठोर वास्तविकता पर खड़ी की गई हैं। यशपालजी उस सम्प्रदाय के कथाकारों में हैं जिनको हवा में तैरने वाली अशरीरी और काल्पनिक जगत् से अधिक इस दुनियां की मिट्टी पर ही पैर जमाये रखकर यहाँ के कार्य-कलापों का ही वर्णन अधिक प्रिय है। प्रथम कहानी में एक मनुष्य अपने धन के एक उत्तराधिकारी की चाहना के कारण एक ऐसे पुत्र को भी स्वीकार कर लेता है जिसको उसकी स्त्री ने ही अवैध रूप से प्राप्त किया है। शिक्षण-संस्थाओं में जाब्ते की कार्यवाही के नाम पर क्या-क्या अनर्थ होते हैं और किस तरह आत्मा की आवाज का गला घोंटा जाता है, यही दूसरी कहानी का वर्ण्य विषय है। 'अंग्रेजों का घुँघरू' नामक तीसरी कहानी में अंग्रेजों को देवता समझने वाले भोले-भाले ग्रामीण के मनोभावों का चित्रण है। 'अमर' में नारी-सौंदर्य की अमर स्फूर्तिदायकता का वर्णन है। 'चन्दन महाशय' में आजकल की राजनैतिक चालबाजियों का पर्दा फाश किया गया है। 'कुल-मर्यादा' में स्त्रियों को पर्दे में रखने वाली प्रथा पर एक मीठी चुटकी ली गई है। 'डप्टी साहब' में कथा के बहाने सन्तति-निग्रह का समर्थन किया गया है। 'हार की जीत में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि किसी क्षणिक आवेश में आकर भीड़ किस तरह पाशविकता के अत्याचारपूर्ण कर्मों में प्रवृत्त हो सकती है और साथ ही ठंढे दिल से सोचने पर नारी में कितनी उदारता के भाव जग सकते हैं।

ऊपर की पंक्तियों में आलोच्य कहानी-संग्रह की कहानियों के वर्ण्य विषय का एक महज सूखा-सा रेखा-चित्र देने का प्रयत्न किया गया है। इससे स्पष्ट है कि कथाकार की प्रतिभा अब व्यापकता की ओर बढ़ रही है। यशपाल की अब तक जो कहानियाँ थीं उनमें प्रधान कण्ठ-स्वर रोटी और मिथुन-भाव

का था मानो शिश्नोदरवाद ही मानव जीवन की एक मात्र नहीं तो अन्यतम वस्तु अवश्य हो। पर इस पुस्तक में यह बात नहीं है। अधिकांश कहानियाँ तो ऐसी हैं जिनका इन बातों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। पर एक-दो कहानियों में जो इसकी झलक आई भी है, उस पर पाठक की दृष्टि अधिक देर ठहर नहीं पाती, वह अपनी ओर पाठकों की दृष्टि को केन्द्रित नहीं कर पाती। 'उत्तराधिकारी' और 'हार की जीत' अथवा 'अमर' ऐसी ही कहानियाँ हैं। 'उत्तराधिकारी' का प्रारम्भ अवश्य होता है मानव की चचल प्रवृत्तियों से, पर अन्त में वह वात्सल्य में परिणत हो जाता है। 'हार की जीत' के पूर्वार्द्ध में भी मनुष्य की काम-वासना प्रबल सी जान पडती है। पर मानव हृदय में कितनी उदारता की क्षमता है इस सवेदन की चोट अन्त में आते-आते पाठक के हृदय पर पडती है तो उसका हृदय धुले हुए आकाश की तरह साफ हो जाता है। यह प्रवृत्ति यशपालजी में और प्रकारान्तर से हिन्दी के कथा-साहित्य में पनपती हुई एक नूतन और स्वस्थ प्रवृत्ति की सूचना है और इस क्षेत्र में अनेकानेक उच्च आशियों की सम्भावना है। कोई भी हिन्दी का हितैषी इस प्रवृत्ति का स्वागत करेगा। कुछ निरुत्साहजनक परिस्थितियों तथा तज्जनित निराशोत्पादक प्रवृत्तियों को देखते रहने पर भी हिन्दी साहित्य और हिन्दी के लेखकों में मेरा अटूट विश्वास है। गोपियों ने उद्धव से कहा था कि 'ब्याहो लाख धरो दश कूबरि अन्त हि कान्ह हमारो' अर्थात् हे उद्धव! कृष्ण चाहे लाखों प्रेमिकाएँ बना लें, दस कूबरियों को भी पटरानी क्यों न बना लें पर उनमें एक ऐसी आन्तरिक विवशता है जो उन्हें हमसे अलग नहीं होने देगी। इसी तरह कुछ परिस्थितियों में पडकर हमारे हिन्दी साहित्य के लेखक का आर्य हृदय एक क्षण के लिए दूसरे विरोधी कैम्प में भले ही चला जाय, पर वह अपने घर के शान्त वातावरण में आने के लिए बाध्य है। लेखक स्वयं भले ही यह महसूस न कर रहा हो, पूछने पर वह कहे भी कि ऐसी बात नहीं। यदि उसके सामने यह कहा जाय कि तुममें एक परिवर्तन हो रहा है तो वह इस कथन का विरोध भी कर सकता है, ठीक उसी तरह जैसे मनोविश्लेषक डॉक्टर की कुछ गुह्य और निन्दनीय-सी लगने वाली सूचनाओं को मानने के लिए रोगी तैयार नहीं होता। पर जितनी ही उसमें विरोध की मात्रा होती है उतनी ही वह बात ठीक भी होती है। 'उत्तराधिकारी' को पढकर मेरी यह धारणा अवश्य बँधती है कि अब हिन्दी के इस कथाकार में स्वस्थ प्रवृत्तियों का उदय हो रहा है।

कथा-क्षेत्र में ही यह परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, प्रत्युत कविता के क्षेत्र में भी अनेक कवियों की काव्य-धाराओं में भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में अधिक करीब आने की प्रेरणा जग रही है।

जब से हमारे साहित्य में यथार्थवाद का प्राधान्य होने लगा है और लेखक मनुष्यों की यथार्थ मनोवृत्तियों के चित्रांकन करने की ओर झुके हैं तब से एक विचित्र विरोधाभास उपस्थित होने लगा है। यह अवश्य है कि साहित्य के लिए एक अपार क्षेत्र का उद्‌घाटन हुआ है और वह कुछ धीरोदात्त-गुण-समन्वित पात्रों तथा विषयों की सीमा के अन्दर ही चक्कर काटने वाला प्राणी नहीं रह गया है। किन्तु इतना होने पर भी उसका दारिद्र्य दूर होता-सा दिखलाई नहीं पड़ता। उसमें थोड़ी उछल-कूद की मात्रा भले ही बढ़ गई हो और वह हल्के मूड वालों को थोड़ी तसल्ली देकर लोक-प्रिय भले ही बन जाय, पर जो व्यक्ति हंस-गति और गज-गति की मस्ती तथा आढ्यता—समृद्धता-का प्रेमी है उसे तो इसमें कोई विशेष उत्साहजनक बात दृष्टिगोचर नहीं होती। इसका कारण है कि हम भूल जाते हैं कि कथाकार एक सृजनशील कलाकार होता है, उसके क्षेत्र में आत्म-दान का ही महत्त्व होता है। जो साहित्यिक विश्व से लेता है अधिक और देता है कम उसका दान सात्विक दान नहीं होता और वह दानी और दान ग्रहण करने वाले दोनों पक्षों को नरक में गिराने वाला होता है। हमने देखा कि चोरबाजारी का घाव समाज के हृदय पर ताजा है, भारत के विभाजन से उत्पन्न साम्प्रदायिक अग्नि की लपटों का धूम्र-समूह अभी समाज की छाती पर बैठा ही है, अकाल के ताण्डव की स्मृति मुँह बाए खड़ी है, मिथुन-भाव के अवांछनीय दमन से जीवन में सड़ाँद पैदा हो गई है। इनकी या इनकी तरह के अन्य कितने ही विषयों की हमें प्रत्यक्षानुभूति होती है, दिन-रात हमें और हमारे साथियों को इनका सामना करना तथा शिकार होना पड़ता है; बस हमने इनको ही इधर उधर के कुछ शब्दों के सहारे लिपिबद्ध करके कहानी के रूप में ढाल दिया। ऐसा करना टकसाल से अभी-अभी निकली चमचमाती हुई खोटी दुअन्नी को चलाकर सौदा खरीद लेना है और यह क्रिया कभी भी सराहनीय नहीं कही जा सकती। कुछ निराली प्रकृति के मनुष्य होते हैं, जो तेल की गरम गरम पकौड़ी के लिए घी की कचौड़ी का भी परित्याग कर देते हैं। पर हम साहित्यिक विवेचन के अवसर पर ऐसे लोगों की बातें नहीं करते, हम ऐसे

लोगों की बातें करते हैं जिनका चित्त स्वस्थ है, मस्तिष्क दुरुस्त है और हृदय तरोताजा है।

मनुष्य की अनुभूति का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत किया जा सकता है और यथासम्भव उसकी सीमा का विस्तार करने के लिए सचेष्ट रहना ही चाहिए। पर अनुभूतिविस्तार और साहित्यिकता ये दोनों एक ही पदार्थ नहीं। प्रत्यक्षानुभूति का थोड़ा-सा ही ऐसा अंश होता है जिसमें मनुष्य की कल्पना को जगाने की शक्ति होती है, जो अनुभावयिता के व्यक्तित्व की अतल गहराई में प्रवेश करके वहाँ की सृजनात्मक चिनगारी को सुलगा देता है। प्रत्यक्षानुभूति का यही अंश वास्तविक साहित्य का उपजीव्य हो सकता है। प्रत्यक्षानुभूति का कितना अंश इस इस गौरव का अधिकारी हो सकता है यह व्यक्ति की निजी रहस्यमयी प्रतिभा पर निर्भर करता है, जिसका विश्लेषण नहीं हो सकता।

ऊपर जो पंक्तियाँ लिखी गई हैं उनका उद्देश्य यह है कि लेखक को वर्ण्य विषय की आन्तरिक शक्ति से अधिक अपनी सृजनात्मक प्रतिभा पर विश्वास रखना चाहिए। जब हम लेखक को वर्ण्य विषय के सामने आत्म समर्पण करते या जिस अनुपात में करते देखते हैं उतनी ही उसे दयनीय समझने की भावना उत्पन्न होती है। यशपाल जी की अधिकांश कहानियों में हम यही त्रुटि पाते हैं। इनकी घटनाएं इतनी ताजी हैं, इतनी गरम हैं कि वे पाठकों के ध्यान को एकदम अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं, कथाकार की सृजनात्मक शक्ति की ओर देखने की उन्हें फुरसत मिलती ही नहीं। हम तो लेखक के आत्मदान के भूखे थे, हम कथा पढ़ने इसलिए आए थे कि वहाँ हम हृदय-रस से लबरेज प्याले की घूँट से अपनी प्यास बुझा सकें, वरना घटनाएं तो रोज ही देखने को मिलती थीं। चन्दन महाराय की, दत्ता साहब की, नाजू की, घुँघरू वाले डाकिये की, गंगाधर की तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं की कमी थोड़े ही है। कमी है तो केवल आत्म-दान की, जो स्वच्छ और शुद्ध मन से स्वच्छन्दतापूर्वक हृदय खोलकर किया जाता है। पहाड़ीजी की एक कहानी है 'गेंदा'। गेंदा पान बेचा करती थी, पर पान के साथ अपने गाहकों को एक मुस्कान भी सौंप देती थी, उसकी दूकान पर भीड़ लगी रहती थी। मुझसे कोई पूछे तो कहूँ कि भीड़ क्यों न हो, पान तो एक पैसे का होता है पर मुस्कान तो लाख रुपये की होती है न। लोग तो मुस्कान के भूखे होते हैं, पान तो मुस्कान पाने का एक बहाना मात्र है।

मेरा खयाल है लेखक कभी भी दुनिया के साथ पैर से पैर मिलाकर नहीं चल सकता। मैंने कहा लेखक अर्थात् Writing self, पूरा मनुष्य नहीं—पूजा करने वाला, व्यापार करने वाला, वोट देने वाला। सम्पूर्ण यशपाल नहीं, यशपाल का वह अंश, जो लेखक है, कलाकार है, साहित्य स्रष्टा है। आजकल एक लुभावना और मोहक तर्क दिया जाता है कि आज जब कि आर्थिक वैषम्य तथा मैथुनिक दमन के कारण मानव-सभ्यता संकटापन्न हो विनाश के किनारे आ लगी है तो उस समय सहिष्णुता का अवसर कहाँ है? साहित्य-स्रष्टा (यहाँ कथाकार) को भी युद्ध में सम्मिलित होना ही पड़ेगा, एक पक्ष का साथ देना ही होगा। ठीक है, जब रोम जल रहा हो तो नीरो की तरह वीणा-वादन में तल्लीन न होकर कथाकार को भी वाल्टी में पानी भरने अथवा पानी की दमकलों को पुकारने दौड़ पड़ना चाहिये। पर यह काम सम्पूर्ण मानव (Whole man) का है, Writing self का नहीं, जो उसका एक अंश है। वह वाल्टी में पानी नहीं भर सकता और Mobilisation की सारी चेष्टाओं का तो वह घोर विरोध करेगा। उसी तरह इस तरह के तर्क देते समय अंग्रेजी के एक और शब्द Ivory Tower (स्फटिक मीनार) का प्रयोग किया जाता है। कहा जाता है कि जो लोग लेखक से एक ही चीज की माँग करते हैं कि वह अपनी विधायक कल्पना के प्रति वफादार रहे और इसे किसी भी अवान्तर स्वार्थ की बलि पर बलिदान न करे वे Ivory Tower सम्प्रदाय के हैं, वे लेखक को इस दुनिया का जीव न रहने देकर कल्प-तरु का निवासी बना देते हैं और लेखक तथा इस संसार के प्राणी में एक कृत्रिम पार्थक्य ला देते हैं। पर नहीं, ऐसी बात नहीं है। लेखक पर भी दुनिया की आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है; वह भी अन्य लोगों की तरह ईर्ष्या व द्वेष का शिकार होता है। पर जब वह लिखने बैठता है तो उसमें थोड़ा-सा पार्थक्य आ जाना स्वाभाविक ही है और जिसे आ जाना चाहिये भी। जब हम पूजा करने बैठते हैं तो अपने को दुनिया से अलग करके एक शान्तवातावरण-पूर्ण कमरे में बन्द नहीं कर लेते क्या? इसे आप कृत्रिम पार्थक्य कहेंगे क्या? मैं पूछूँ कि साहित्य-सृजन पूजा करने से कम महत्वपूर्ण कार्य है क्या? आप Ivory Tower में या कल्पतरु के नीचे निवास भले न करें, पर आपको लिखते समय वहीं चला जाना चाहिए। Flaubert आजकल कुछ अति आधुनिक विचार वालों के लिए प्रिय नहीं रह गया है पर उसके ये कुछ शब्द मनन करने योग्य हैं: Let us shut our door, let us climb to the top of

Ivory Tower, to the last step, the nearest to the heaven It is cold there, some times, isn't it ? But who cares ! One sees the stars shine clear and no longer hears the Turkey Cocks

अर्थात् हम अपने दरवाजे बन्द कर लें और अपनी स्फटिक मीनार के सबसे ऊँचे शिखर पर चढ जाँय, जो स्वर्ग से सबसे अधिक समीप हो। माना कि वहा कभी-कभी अधिक ठड पडती है, पर परवाह क्या है ? सितारों की जगमगाहट तो दिखाई पडती है और मुर्गे की कर्कश कटु ध्वनि से जान तो बचती है ? आप भले ही दुनिया मे अनुभव प्राप्त करें पर स्फटिक मीनार पर बैठकर ही पता चलेगा कि आपके अनुभव का कितना अश आपके जीवन में घुल मिल सका है। आपके व्यक्तित्व की गहराई मे प्रवेश करके आपकी कल्पना को Fertilise कर सका है। युधिष्ठिर जब हिमालय पर्वत की ऊँचाई पर चढने लगे तब उन्हें पता चला कि दिन रात दु ख सुख मे साथ देने वाले यहाँ तक कि एक पत्नी की सेवाओं पर भी सामा रखने वाले भाई वहा साथ न दे सके। साथ दे सका तो एक बेचारा कुत्ता। उसी तरह आप कह सकते है कि एक किसान की दिन-रात की भूख की पीडा तथा राजनीति के हथकण्डे के संकेत के ऊपर नाचते रहने पर भी वे उसकी मृजनात्मक प्रतिभा को छू न सके हों। ठीक इसके विपरीत एक फाख्ता की सुरीली आवाज या रमणी की मुस्कान ने उसके व्यक्तित्व के उस केन्द्र में प्रवेश कर लिया है जहां से सृजन का आरम्भ होता है।

वास्तव में देखा जाय तो संस्कृति, सभ्यता, तथा मानवीय मूल्यों को खतरा अपने शत्रुओं से नहीं, जो ताल ठोककर, ललकारकर इनकी हस्ती को मिटा देना चाहते हैं। सभ्यता स्वय ही असभ्यता की और संस्कृति असंस्कृति की, मानवता अमानवीय मूल्यों की सबसे विरोधिनी है और वह अपनी शक्ति से उसे परास्त कर देती है।

भारतीय सस्कृति के इतिहास के पढने वालो से क्या यह बात छिपी है कि कितनी ही बर्बरताओं ने उस पर आक्रमण किया, इसे कहने को जीत भी लिया, पर अन्त में दुर्दान्त विजेताओं को भी इसके हाथों पालतू मेमना बन जाना पडा ? मानों समुद्रों को पार करने वाला, काबा और जमजम मे भी न अटकने वाला दीने-इलाही का बेबाक बेडा गगा के दहाने मे आकर डूब ही गया था

न कि और कुछ ? नहीं, ये शत्रु तो प्रकारान्तर से मित्र ही हैं। वास्तविक शत्रु वे हैं जो हित की कामना से प्रेरित होकर अनेक लुभावने तर्काभास के द्वारा संस्कृति और सभ्यता की रक्षा करने के ध्येय से उसके सबसे बड़े आधार-स्तम्भ अर्थात् कलाकार की स्वतन्त्रता, उसकी शक्ति, उसके मानसिक संतुलन पर ही कुठाराघात करते हैं।

चला था 'उत्तराधिकारी' की समीक्षा करने और साहित्य-स्रष्टा की अभिव्यक्ति के मनोवैज्ञानिक पहलू पर लेक्चर दे गया। कारण यह नहीं कि 'उत्तराधिकारी' की संगृहीत कहानियों से मेरी कोई खास शिकायत है। नहीं, कहानियाँ उच्चकोटि की हैं। कहावत है 'सरलो तेली तो कमर में अधेली' अर्थात् तेली कितनी भी दरिद्रावस्था को प्राप्त हो जाय पर तो भी उसकी कमर में अधेली होगी ही। अध्ययन की दो पद्धतियाँ हैं, या तो इतिहास के माध्यम से साहित्य का अथवा साहित्य के माध्यम से इतिहास का। यदि हम दूसरी पद्धति के पक्षपाती हों तो यशपाल का कथा-साहित्य, जिसमें 'उत्तराधिकारी' सबसे नवीनतम-कृति है, इसका उत्तम साधन है। आधुनिक युग की गति विधि, उसकी राजनीति, उसके सामाजिक आचार-विचार का एक ऐसा परिचायक कहाँ मिल सकता है ? पर्दा-प्रथा की बुराइयों का पर्दा-फाश करने वाला 'कुल की मर्यादा' से बढ़कर और कौन हो सकता है। पर इसमें आधुनिक घटनाएं-ही-घटनाएं तो हैं, लेखक कहां है ? पता नहीं चलता, उसकी कल्पना कहाँ है ? जो-कुछ दान हो रहा है वह इन बाह्य घटनाओं की ओर से हो रहा है, लेखक की गाँठ से तो कुछ भी खर्च नहीं हो रहा है।

सृजनात्मक व्यापार की वास्तविक प्रक्रिया क्या है, इस सृजन-व्यापार में संलग्न मानस में क्या-क्या व्यापार होते हैं यह एक लम्बा अवान्तर प्रसंग हो जायगा। पर यूरोपीय कथाकारों के कुछ उदाहरण मिल सकते हैं जिनसे पता चल सकता है कि बाह्य संसार से मिली घटनाओं का सूक्ष्म बीज किस तरह की मिट्टी और वायु से रस खींचकर एक विशाल वृक्ष के रूप में परिणत हो गया। हेनरी जेम्स ने अपनी Prefaces में अपने उपन्यासों के निर्माण का इतिहास पूर्ण रूप से लिखा है और बतलाया है कि प्राप्त कच्ची सामग्री को परिपक्व उपन्यास के रूप में तैयार करने में उसके मानस में कौन-कौन से व्यापार हो सकते हैं। हिन्दी में इस तरह का इतिहास प्राप्त नहीं है। केवल एक जगह प्रेमचन्द ने कहा है कि 'रंगभूमि' का बीज मुझे एक अन्धे भिख-

मगे से मिला था। यहाँ मार्शल प्रुस्ट की कथा की कहानी पढ़ रहा हूँ। इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि मार्शल प्रुस्ट के साहित्य का मैंने अध्ययन किया है, परन्तु कुछ तो इसलिए कि अब हिन्दी में इनका नाम लिया जाने लगा है, कुछ इसलिए कि मैंने भाग्य से वह कहानी पढ़ी है और विशेषत इसलिए कि इस कहानी और यशपाल की एक कहानी में विचित्र साम्य है। एक M Venteml नाम की लडकी है। उसका पिता फ्रास का श्रेष्ठ गायक था। पुत्री पर उसे नाज था, पुत्री भी उसे प्यार करती थी। उसका एक प्रेमी है। पर उसके प्रेम करने का ढग विचित्र है जिसकी राक्षसी क्रूरता को देखकर हृदय दहल जाता है। वह प्रणयव्यापार के पूर्व अपने पिता के चित्र को सामने रखकर बार बार कहती है कि "यदि वह हम लोगों को अभी देख ले तो क्या कहेगा" और ऐसा कहकर अपने प्रेमी को उस चित्र का तरह-तरह से अपमान करने के लिए, यहा तक कि उस पर थूकने के लिए उत्तेजित करती है। इस कहानी का सूत्र कहाँ मिला, इसकी कथा मालूम है। मार्शल प्रुस्ट एक सज्जन को जानते थे, जो अपनी स्त्री और बच्चों के प्रति अनुरक्त रहते भी एक दूसरी महिला से प्रेम करते थे और जब भी उस प्रेमिका के पास जाते अपनी पत्नी और बच्चोंकी चर्चा अवश्य करते। यहाँ तक कि वह तग आ गई और झल्ला कर कहा, "क्या तुम मेरी बीबी, मेरी बीबी, मेरे बच्चे, मेरे बच्चे, करते रहते हो"। उन्होंने कहा "तब मैं उन्हें क्या कहकर पुकारूँ ?" उसने कहा, "अरे कहो राक्षसी-राक्षसी और राक्षसी के बच्चे।" इस घटना ने लेखक के मस्तिष्क मे जाकर इस कला पूर्ण कहानी का रूप धारण किया। पर लेखक ने एक ओर पात्रों को पतन के अतल गह्वर में गिराया तो दूसरी ओर उन्हें उच्चता के हिम शिखर पर चढा दिया। जब इस प्रणयी युग्म पर जो भूत सवार था वह उतर गया और इन लोगों के मन में अपने दुष्कृत्यों पर प्रायश्चित के भाव जगे तो वे अपने पिता के रागनाओं को ढूढकर कुछ ऐसी ध्वनियाँ प्रकाश मे लाये जिनके सामने उसका सर्वश्रेष्ठ सगीत भी फीका मालूम पडता था। इस तरह वह फ्रास के इतिहास मे अमर हो गया। यह हम कच्ची सामग्री को एक महान् कलाकार की कल्पना से होकर निकलते देख रहे हैं। उसी तरह यशपाल की एक कहानी है 'हलाल का टुकडा'। एक वेश्या है, वह भी थर्ड क्लास की। रात मे यमुना के पुल के नीचे किसी से पैसे के लिए झगड़ा कर रही थी। तब कांग्रेस के एक मन्त्री कांग्रेस के गैरकानूनी घोषित हो जाने के कारण कुछ कागजात और ४० हजार रुपये लेकर भागे जा

रहे हैं। वे इस वेश्या की घटना में बीच-बचाव कर ही रहे थे कि पुलिस आ जाती है और वे अपना सारा सामान उस वेश्या की टोकरी में फेंककर भाग जाते हैं। बाद में परिस्थिति की गम्भीरता का खयाल आता है और खोजते-खोजते वे उस नारकीय स्थान पर पहुंचते हैं जहाँ वह वेश्या रहती है। वेश्या कहती है: "जाओ उस टोकरी में पड़ा है, उठा ले जाओ। मैं दूसरों की कमाई पर लार नहीं टपकाती।" यहाँ कहानी का कंकाल-मात्र ही दिया जा सका है। उसका पूरा रस नहीं आ सकता, पर फिर भी जीवन के खंडहर में मानवता की दिव्य ज्योति चमक रही है। यह देखकर मनुष्य की भागती आस्था लौट आती है और उसके भविष्य में विश्वास जग उठता है। यह एक कहानी है जो Human से अधिक Divine है, जो फिलहाल डुबाती-सी भले ही दीख पड़े, पर पार भी वही करती है। इससे पता चलता है कि कलाकार में प्रतिभा का अभाव नहीं है।

पर 'उत्तराधिकारी' की अधिकांश कहानियों में हम सृजन, इस आत्मदान, इस आत्माभिव्यक्ति की झलक का दर्शन नहीं कर पाते कि हम लेखक के प्रति कृतज्ञता के भाव से झुक जायें। यह कहकर मैं 'उत्तराधिकारी' के साथ अन्याय-सा करता होऊँ; पर यशपालजी की कहानियों का अथवा आज की हिन्दी की कहानियों का मूल्यांकन करते साधारण मापदण्ड से काम लेना भी तो न्याय नहीं होता। यशपालजी ने सैंकड़ों कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कल्पना (Vision) में विस्तृति पर्याप्त मात्रा में आगई है। अब तो उन्हें पचाना ही नहीं, उन्हें अपना बनाना है, अपनी कल्पना को Intensity के मार्ग की ओर प्रेरित करना है। दूसरे शब्दों में दुनिया को छोड़कर अपनी गहराई की ओर झाँकना है, तभी उनकी कला में आढ्यता आयगी, समृद्धि आयगी। यों वे दुनिया के पीछे-पीछे क्यों मारे-मारे फिरें? हमें ऐसा लगता है कि वे आत्म-शक्ति से अधिक संसार पर विश्वास करने के मोह से अपने को मुक्त नहीं कर सके हैं।

'नये मोड़'

हिन्दी के अधुनातन उपन्यासों के आलोचक को एक बड़ी ही कठिन तथा असमंजस में डालने वाली परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। उपन्यास अधिक संख्या में लिखे जा रहे हैं इसमें सन्देह नहीं, पर इसमें भी सन्देह नहीं कि ये निर्जीव होते हैं, इनमे नित्य-नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा का नितान्त अभाव होता है तथा इनके शब्दों में किसी तरह की प्रभावोत्पादकता नहीं होती। एक शब्द है 'बकोट मारना'। यदि कोई वस्तु आपके सामने हो और वह मुलायम हो, गदबदी हो तो उस पर अपने पंजों से बकोट मार कर आप कुछ अंश निकाल ले सकते हैं। पर यदि वह छाया मात्र हो, जो वस्तु सामने है वह कड़ी हो तो 'बकोट' मारने पर भी आप के हाथ कुछ लगने वाला नहीं। हाथ लगेगी तो या तो निराशा, नहीं तो अंगुलियों में ऐसी चोट कि आप तिलमिला जाँय। आज का आलोचक आज के कथा साहित्य पर 'बकोट' मारने चलता है तो उसे कुछ मिलता ही नहीं। वह क्या कहे और क्या नहीं कहे। ऐसी सूरत में भट्टजी के 'नयेमोड' में कुछ कहने, सुनने, बकोट मारने के लिये सामग्री मिल जाती है इसे मैं बड़ी बात समझता हूँ। सच मानिये, मैं उपन्यासों का नियमित पाठक हूँ पर उन पर कुछ कहना चाहता हूँ तो कहने को कोई बात ही नहीं मिलती और अपने एक मित्र की बात याद आती है कि आलोच्य साहित्य के साथ ही आलोचना भी ऊँची उठती है।

- -

ऐसी ही मानसिक परिस्थिति मे श्री उदयशंकर भट्ट का 'नये मोड' नामक उपन्यास पढने को मिला। इसमे मुख्यत डा० शेफाली की कर्मठता, कर्त्तव्यपरायणता तथा रोगियो के लिये हृदय मे सेवा भावना की कथा कही

गई है। प्रसंगवशात् आजकल के भ्रष्टाचार, कालाबाजार के व्यापार तथा कुछ क्रान्तिकारी दल की भी बातें आ गई हैं, पर शेफाली की कथा ही मुख्य है। अतः इसे पात्र-प्रधान उपन्यास ही कहा जा सकता है। आजकल हिन्दी में दो तरह के कथाकार देखने में आते हैं, एक तो वे जो उपन्यास के कथा-भाग को सर्वांग सुन्दर बनाने के लिये सचेष्ट हैं और दूसरे वे जो कथा-भाग के प्रति उदासीन होकर अधिक से अधिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा चेतना-प्रवाह की छानबीन की ओर प्रवृत्त हैं। हाँ इतना अवश्य है कि अभी भी बाहुल्य प्रथम श्रेणी के कलाकारों का ही है। ऐसा मालूम होता है कि हमारी चेतना में किसी अज्ञात, इन्द्रियातीत, पर अपनी स्थिति से विश्व को उचित व्यवस्था पूर्वक बनाने वाली शाश्वत सत्ता के प्रति आस्था इतनी बद्धमूल है कि लाख आघातों के बावजूद भी हिल नहीं सकती। यहीं कारण है कि हमारे कथा-साहित्य में Virginia wolf और James joyce पैदा नहीं हो सके। उत्पन्न हुए तो जैनेन्द्र और अज्ञेय जो चले तो इनके ही पदचिन्हों पर, "जोर तो बहुत मारा पर वह किस्मत में नसीब हो नहीं सकी।" और यह अच्छा ही हुआ। 'नये मोड़' में भट्टजी ने कथा के आधार पर ही अपनी समाज सम्बन्धी कल्पनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। उन्होंने देश के जीवन में काम करनेवाली प्रवृत्तियों को, नैतिक तथा आध्यात्मिक ह्रास को, क्रान्ति तथा साम्यवाद के नाम पर व्यवसाय करनेवाली वासना को तथा धर्म के आवरण में चलती रहनेवाली वासना को अच्छी तरह देखा है और उसे दो टूक शब्दों में यथार्थवादी दृष्टिकोण से उपस्थित किया है।

सच पूछा जाय तो 'नये मोड़' की ये ही विशेषताएँ हैं। (i) यथार्थ वादी और स्पष्ट दृष्टिकोण (ii) आधुनिक स्वतन्त्र भारत के जीवन को संगठित या विघटित करने वाली, उन्नत या पतित करनेवाली, सारी प्रवृत्तियों पर कुछ न-कुछ इस उपन्यास में प्रकाश डाला गया है। और इस तरह अपने युग की समस्याओं को समझने में सहायता दी गई है। (iii) आधुनिक युग में नये-नये टेकनीक के प्रलोभन से लेखक ने अपने को बचाया है। कहीं भी सस्ती भावुकतापूर्ण तथा वासनात्मक वर्णन की चटखारें लेकर लेखक ने मनुष्य की नैतिक शिराओं को निर्बल बनाने का तथा पाठकों को प्रलुब्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है। ऐसे अवसरों की कमी नहीं थी। हरदोई थी, शुभदा थी, स्वयं शेफाली थी। प्राणनाथ और रामकुमार की बात ही अलग है। रामकुमार और शेफाली को लेखक एक बार ऐसी परिस्थिति में ले गया है

जहां अवश्य ही लेखनी काबू से बाहर हो जाती है। पर बड़े संयम और सफाई से काम लिया गया है। यौन सम्बन्धी उच्छृंखलता और लापरवाही के वर्णन में आजकल साहस से काम लेना साधारण हो गया है। जब से इलाचन्द जोशी ने 'पर्दे की रानी' में एक नारी के इतने वर्षों तक सतर्कता और सावधानी से सुरक्षित की हुई चीज को रेल की उस कालरात्रि की प्रलय-बाढ़ में बहा दिया तब से इस मैथुनिक उच्छृंखलता ने कितने रूप धारण किये हैं—यशपाल के स्थूल संभोग (फूलों का कुर्ता) से लेकर अज्ञेय Divine Urge और Fulfilment के रहस्यात्मक रूप तक। भट्टजी भी इस प्रसंग को लाने का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं—इसे युग का प्रभाव ही कहा जा सकता है। पर जिस उद्देश्य से इसका प्रयोग उन्होंने किया उसमें मौलिकता है। पर कला कला के लिये नहीं, यौन संबंधों का वर्णन यौन संबंधों के वर्णन के लिये नहीं, पर देश को गुमराह करनेवाले तथाकथित साम्यवादियों पर चोट करने के लिये है, उनके चरित्र पर, उनकी गतिविधि पर तथा नैतिक उदासीनता पर प्रकाश डालने के लिये है। 'नये मोड़' के एक पात्र ने एक स्थान पर कहा है—"भारतवर्ष का कम्युनिस्ट जितना रूस के प्रति सच्चा है, उतना देश के प्रति नहीं। वह अन्न भारत का खाता है, रहता यहाँ है, पानी यहाँ का पीता है पर गीत गाता है रूस के।" यही लेखक का मन्तव्य मालूम पड़ता है। नहीं तो साम्यवादी दल में तत्परता से काम करनेवाली नारी गर्भपात कराने के लिये नुस्खे ढूँढती नहीं फिरती।

ऊपर कहा गया है कि 'नये मोड़' में यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। इसमें उठाई गई समस्यायें आज की हैं—पर इसका अर्थ यह नहीं कि लेखक की कलात्मक स्वतन्त्रता या तटस्थता ने युग के कोलाहल के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है। ये तो अल्पप्राण लेखक किया करते हैं या वे प्रगतिवादी करते हैं जो जीवन को जीवन से न देख कर पुस्तक के अथवा कुछ राजनैतिक नारों के माध्यम से देखते हैं। कलाकार जहाँ युग का साथ देता है, वहां युग का विरोध करना भी कभी कभी उसका कर्तव्य हो जाता है। कलाकार का काम युग की तात्कालिकता में से शाश्वतता तथा शाश्वत से तात्कालिक प्रासंगिकता को खोजना और प्रकट करना है। कला क्षण और शाश्वत को एक साथ आबद्ध कर के दिखलाती है। इस बात का थोड़ा प्रयास 'नये मोड़' में देखने को मिलता है। जिस कथा को लेकर और जिस ढंग से 'नये मोड़' का निर्माण हुआ है उसमें लेखक के लिये शेफाली को दो सहज मार्ग पर ला

दिखला कर उपन्यास का अन्त करना बड़ा सुगम था और वह लोगों को प्रिय भी होता। यदि शेफाली कानून की परवाह न कर प्राणनाथ के साथ विवाह करने का ही निर्णय कर लेती तो वह आज के प्रगतिशील कहलानेवाले दल से दाद पाती। यदि वह पति राममोहन के साथ ही पत्नीरूप में रहना स्वीकार करती तो आदर्श के नाम पर मरने वालों की प्रीति-भाजन होती। पर वह इनकी दोनों मार्गों का परित्याग कर एक तीसरी ही ओर चल देती है और सदा के लिये एक छाप पाठक के हृदय पर छोड़ देती है। 'नये मोड़' के प्रारंभ में कलात्मकता भले ही न हो पर अन्त तो कलात्मक अवश्य है, इसमें सन्देह नहीं। कहा है, 'आदिभ्रष्ट अच्छा, पर अन्तभ्रष्ट अच्छा नहीं।' 'नये मोड़' अन्तभ्रष्ट कम-से-कम नहीं।

'नये मोड़' का उपजीव्य हमारे देश की नई समस्यायें हैं। यही इसका सबल, उज्ज्वल पक्ष है पर यही इसकी दुर्बलता भी है। यह 'नये मोड़' के लिये ही सत्य नहीं पर आधुनिक युग की चलती समस्याओं को लेकर निर्मित किसी भी रचनात्मक साहित्य पर लागू है। ऐसा मालूम पड़ता है कि जीवन की वर्त्तमान दैनिक समस्यायें हमें इस तरह अभिभूत किये रहती हैं, हमारे ऊपर इस तरह छाई रहती हैं कि हमारे व्यक्तित्व की उस गहराई को छू ही नहीं सकती जहां से सृजन का जादू शुरू होता है। यही कारण है कि वर्त्तमान की तात्कालिकता को लेकर बहुत ही कम उच्च साहित्य की सृष्टि हो सकी है। यशपाल ने अनेक उपन्यास लिखे हैं पर 'दिव्या' उनमें सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि लेखक की कल्पना को आज की तात्कालिकता ने दबा नहीं दिया है, उसे अपने तत्परत्व में संलग्न होने की फुरसत है जो 'दादा-कामरेड'; 'पार्टी कामरेड' तथा 'मनुष्य के रूप' में भी नहीं। अज्ञेय और जैनेन्द्र अधिक सफल औपन्यासिक है तो इसलिये कि वे आधुनिक जटिलता से थोड़ा मुक्त हैं; हालांकि आधुनिक समस्यायें उनमें आ गई हैं अवश्य। 'नये मोड़' में त्रुटि है तो यही कि लेखक ने देश में दिनोदिन घटनेवाली प्रवृत्तियों, घटनाचक्रों की साहित्यिक अपील पर जरूरत से ज्यादा भरोसा किया है, उसमें Sub jective sanction का अभाव है, उसमें सब कुछ मिलता है, यदि नहीं मिलता तो लेखक का व्यक्ति। यों एक दूसरी दृष्टि से इसे इस उपन्यास का गुण भी बता सकते हैं। कहा जा सकता है कि लेखक के दृष्टिकोण में Objective solidity है। पर मेरा अपना विचार है कि चाहे वस्तुनिष्ठ दृढ़ता हो या व्यक्तिनिष्ठ तरलता, किसी भी माध्यम से होकर पाठक व्यक्ति को ही देखना

चाहते हैं। आप चाहें शरबत पीने को दें या लेमनजूस दें पर किसी भी हालत में हमें मिठास तो मिलनी ही चाहिये।

उपन्यासों की एक परम्परा रही है, जिसमें किसी भूले कागज, या सकेत या तावीज के प्राप्त हो जाने पर कथा का रहस्योद्घाटन होता है और कहानी का अन्त हो जाता है। 'नये मोड़' का अन्त भी इस बात के रहस्योद्घाटन के साथ होता है कि डा० शेफाली श्री राममोहन की पत्नी है जिनका विवाह कुछ कारणों से विधिवत समाप्त नहीं हो सका था। 'नये मोड' में प्रयोगवादी दृष्टिकोण से देखने पर किसी भी प्रकार की नूतनता नहीं मिलेगी। न भाषा के प्रयोग मे, न कथा की सगठनपद्धति में और न जीवन दर्शन में। हाँ, घटना वैसी अवश्य है जिसका दर्शन आज से कुछ वर्ष के पहिले उपन्यासों मे हम नहीं पाते है पर नूतनता में इसकी गणना नहीं हो सकती। घड़े के कारण में मिट्टी और कुम्भकार को ही उपादान कारण और निमित्त कारण कहकर पुकारा गया है। आकाश को, वायु को, उस गदहे को जिसपर मिट्टी ढोकर लाई गई थी अथवा उस पिता को जिसने कुम्भकार को उत्पन्न किया था, कारण का गौरव नहीं दिया गया है हालांकि घडे को उत्पन्न करने मे उनका योग अवश्य है। उसी तरह 'नये मोड' के निर्माण में हम इन घटनाओं को कोई विशिष्ट स्थान नहीं दे सकते। 'नये मोड' में कोई ऐसी बात नहीं जिसे हम इसकी विशेषता कह सकें। पर सब मिलकर कहा जा सकता है कि इसमें लेखक को सफलता मिली है और प्रेमचन्द जी की परम्परा में लिखित उपन्यासों में इसके द्वारा श्रीवृद्धि हुई है।

एक वार्त्तालाप

प्रश्न— सुना है आपकी थीसिस का विषय "आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान" रहा है। कृपया, बतलाइये कथा साहित्य में मनोविज्ञान से आपका क्या अभिप्राय है। कोई कथाकार मनोविज्ञान को बाद देकर चल ही कैसे सकता है?

उत्तर— आपका कहना बहुत अंश में ठीक है। देवकीनन्दन के पात्रों में भी राग अनुराग इत्यादि भावनाओं का चित्रण किया ही गया है और वही बात अज्ञेय, जेनेन्द्र आदि के उपन्यासो में भी मिलती है। परन्तु क्या एक बात पर गौर आपने नहीं किया है? प्राचीन कथाओं के पात्रों को इतना क्रियातत्पर दिखाया गया है, दुनिया के रणक्षेत्र में इस तरह अकाण्ड ताण्डव करते और हाथ पैर पटकते दिखलाया गया है कि मानों उनकी आन्तरिकता अपने स्वरूप को खोकर शुद्ध बाह्यात्मकता में परिणत हो गई अर्थात् उनका पूर्ण रूपेण बाह्यीकरण ही गया हो, और बाह्यीकारण भी इस तरह से हुआ हो कि उसकी धूमधाम में उनकी आन्तरिकता की छोटी सी लकीर भी न दिखालाई पडती हो। ऐसा मालूम पडता है जैसे कोई कठपुतली बहुत जोर शोर के साथ अपने कार्य में तत्पर हो। हमारे बच्चे की मोटरकार है। चाबी ऐंठते ही इतनी तेजी के साथ भागती है कि क्या शिवरलेट कार उसके सामने है। पर क्या वह कभी भी साधारण कार की समता सकती है? क्या उसमें वह अंदरूनी ताकत पाई जाती है जिसे एक साधारण कार में भी देख कर हम प्रसन्न हो जाते हैं? वही बात ठीक प्राचीन उपन्यास के पात्रों की भी समझ लीजिये। प्राचीन कथा के पात्र डील

डील में बड़े हैं और मनुष्य की तरह व्यवहार भी करते हैं परन्तु उनका यह व्यवहार अन्दर से पनपता हुआ न होकर बाहर ही बाहर तैरता हुआ दिखलाई पड़ता है। यही कारण है कि हम उन उपन्यासों को मनोवैज्ञानिक उपन्यास नहीं कहते।

प्रश्न—प्रेमचन्द के पात्र भी तो कम क्रियातत्पर नहीं दिखलाई पड़ते। वे भी तो आकाश और पाताल के कुलाबे को एक करते ही हैं। तो क्या उनके उपन्यासों को आप मनोवैज्ञानिक उपन्यास नहीं कहेंगे?

उत्तर—साहित्य एक बहुत ही व्यापक वस्तु है। मानवता का निर्माण जिन जिन उपकरणों से हुआ है उनमें से किसी को छोड़ कर यह अतने पद से च्युत हुए बिना नहीं रहेगा। किसी न किसी रूप में उसमें सारी मनुष्यता का प्रतिनिधित्व रहेगा ही। यों समझिये। मनुष्य जब तक जीवित है तब तक उसमें मनुष्य बनाने वाले सब तत्वों का रहना अनिवार्य है। प्रश्न होता है केवल मात्रा का। किसी में कोई चीज एक मात्रा अधिक हो सकती है किसी में एक मात्रा कम हो सकती है। जिसे हम साधु और सन्त कहते हैं उसमें, असाधुत्व या असतत्व नामक अधकार मय पक्ष की अवस्थिति नहीं हो सो बात नहीं, परन्तु हाँ, उस अधकार पर प्रकाश उस तरह छाया रहता है कि उसकी ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती। उसी तरह किसी साहित्यिक रचना में मनुष्य की आन्तरिकता तो रहेगी ही परन्तु उस आन्तरिकता के प्रकाशन में लेखक के द्वारा पक्षपात या उदासीनता हो सकती है। प्रेमचद जी के पात्र भी कम क्रियाशील नहीं दिखाई पड़ते परन्तु साथ ही साथ उनमें चिन्तन की भी मात्रा है। वे क्रियातत्पर (Man in action) भले ही हों परन्तु साथ ही साथ उनमे चिंतन शील (Man in Contemplation) का भी रूप दिखाई पड़ता है।

प्रश्न—क्रियातत्पर तथा चिंतनशील मानव से आपका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अभिप्राय स्पष्ट ही है। दो शब्द है-चिंतन और क्रिया। इन दोनों में अन्तर समझने के लिये मैं आपके सामने दो मनोवैज्ञानिकों के प्रयोग की बात कह रहा हूँ। जर्मनी के दो मनोवैज्ञानिक थे जिनका नाम था आख और वाट। इन लोगों ने दौड़ प्रतियोगिता मे भाग लेने

वाले कुछ खिलाडियों से एक प्रश्न पूछा था। उन्होंने पूछा कि भाई यह तो बताओ कि सूचना मिलने के पहले अर्थात् दौड प्रतियोगिता आरम्भ करने के लिये पिस्तोल के दगने के पहले ही तुम लोग अपनी सारी पद्धतियों पर विचार कर लेते हो अर्थात् किस तरह दौडोगे, इसमें किन २ उपायों से काम लेना होगा इन बातों को पहले ही सोच लेते हो या दौड प्रारम्भ करने के बाद ? उन्हें जो उत्तर मिले, उनसे वे दोनों मनोवैज्ञानिक इसी परिणाम पर पहुंचे कि दौड प्रारम्भ करने के पहले ही सारी बातें सोच ली जाती हैं। यदि बाद में कोई इन बातों कर विचार करे तो वह कभी भी प्रतियोगिता में सफल नहीं हो सके। प्रतियोगिता की कल्पना के आने के समय से लेकर प्रतियोगिता में होने के समय तक की अवधि को उन लोगोंने einstellung कहा है और प्रवृत्त इसी अवधि में सारी मानसिक तैयारी हो जाती है। दौडधूप प्रारम्भ होने के बाद तो मनुष्य को कुछ सोचना रह ही नहीं जाता। वह एक मात्र यंत्र रह जाता है। इसी प्रतियोगितापूर्व की अवधि को जो अपन्यास अपने विकास का विषय बनायेगा वह मनेवैज्ञानिक उपन्यास होगा। यह अवधि बहुत लम्बी होती है। जो पूर्ण मनोवैज्ञानिक औपन्यासिक होगा वह इस अवधि का विस्तृत वर्णन करेगा। जिसमें मनोवैज्ञानिकता पूर्ण रूप से उभरी नहीं होगी वह इस अवधि के छोटे से अंश को ही लेगा। बस आप अंग्रेजी के Pre-historic वाली बात समझ लीजिये। इसी Pre-historic वाली बात को लेकर मनेवैज्ञानिक उपन्यास अपने ताना बाना बुनते हैं। उनमें क्रिया का इतना महत्व नहीं होता। क्रिया होती भी है तो Pre-historic युग की लहरों से इतनी ओत प्रोत रहती कि उनके अस्तित्व की तरफ किसी का ध्यान जाता भी नहीं।

प्रश्न— जिसे आप Prehistoric अथवा प्राक् ऐतिहासिक काल की बात कह रहे हैं वह तो बहुत कुछ फ्रायड के अचेतन या अर्द्धचेतन की सी चीज मालूम पड़ती है। आप कह रहे हैं Prehistoric और फ्रायड कहेंगे Preconscious अर्थात् pre (प्राक्) तो दोनों के पीछे लगा है और conscious तथा historic ये दोनों शब्द समानार्थक हो सकते हैं।

उत्तर— जी नहीं, इन दोनों शब्दों का प्रयोग मैंने समानार्थद्योतक रूप में नहीं किया है। दोनो दो जगत के शब्द है।

का ज्ञान ही नहीं है। यह बात स्पष्ट होगी कि जब आप
H G Wells और Henry James के वार्तालाप पर आप ध्यान दें।
बात H G Wells के एक प्रसिद्ध उपन्यास Marriage को लेकर थी।
इस उपन्यास में नायक अपनी नायिका के साथ एक शहर की गली
में चला जाता है और ३ घन्टों के बाद फिर वहा से निकलता है।
Henery James की यह शिकायत थी कि Wells ने अपनी पुस्तक
में इस बात का जरा भी आभास नहीं दिया है कि वे ३ घन्टे तक क्या
करते रहे अर्थात् उनकी क्या मानसिक अवस्था रही और उनके अन्दर
कौन से स्वर्ग और नरक की सृष्टि होती रही तथा उनके मानस में कैसी
उत्ताल तरंगें उठती और गिरती रहीं। यह एक अवसर था जिसको
लेकर न जाने कितनी चमत्कारपूर्ण दुनिया की सृष्टि की जासकती थी
अन्य लेखकों ने ऐसा किया भी है। अंग्रेजी के James Joyce, Vir-
ginia Woulf इत्यादि की बातें छोड दीजिए। हिन्दी में अज्ञेय, और
शिवचन्द जैसे लेखकों ने भी इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का जौहर
दिखलाया है। अत मनोवैज्ञानिक कथाओं का एक यह भी रूप हो सकता
है। परन्तु यदि हमसे पूछिये तो मैं असाधारण, विकृत Abnormal
को लेकर चलने वाली को ही विशिष्ठ मनोवैज्ञानिक कहानी कहूँगा।
कारण आज के मनोविज्ञान ने हमें यही बतलाया है कि असाधारणता
या विकृति साधारणता का ही विस्तृत रूप है और यदि आप साधारणता
को ठीक से पहचानना चाहते हैं तो असाधारणता के Magnifying
Lense से उसके स्वरूप को ठीक तरह से पहचान सकते हैं। मुझे अपने
पुरातत्वान्वेषण मन्दिर में हस्तलिखित ग्रन्थ पढने की आवश्यकता
पडती है। यदि कहीं पढने में असुविधा हुई तो अक्षरों को Magnify
ing Lense के सहारे पढ लेता हूँ। Lense के द्वारा अक्षर विकृत
हो तो जाते हैं सही, पर वे ही अक्षरों के सही स्वरूप दिखलाने में
समर्थ होते हैं। अत इस असाधारणता के द्वारा हमारे कथाकारों की
कलात्मकता जितनी ही प्रेरणा ले सके उतना ही अच्छा।

प्रश्न— हिन्दी में इस तरह के मनोवैज्ञानिक आग्रह रखने वाले कथाकार हैं
या नहीं ?

उत्तर—हैं क्यों नहीं। जोशी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, शिवचद का नाम लिया जासकता है,
पर इन लोगों की भी पकड गहरी नहीं है। कारण कि आधुनिक मनो-

विज्ञान के सिद्धान्तों से इन लोगों का अधिक परिचय नहीं है। हमारे कथाकार या साहित्यिक अपनी मौलिक प्रतिभा पर आवश्यकता से अधिक निर्भर करते हैं और कितने लोग तो ऐसे भी मिले जो आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के परिचय की बात पूछने पर इनसे अपनी अनभिज्ञता प्रगट करने में ही गौरव की बात समझते हैं। यह दयनीय अवस्था है और इसे इन्हें मुक्त होना चाहिए ?

प्रश्न—मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के भविष्य के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर—मनोवैज्ञानिक कथाओं का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है और हिन्दी कथा साहित्य में जब कभी प्रगति आयेगी तो इसी ओर से। कम से कम मनोविज्ञान ने तो इतना कर ही दिया है कि कथा के क्षेत्र में अब स्थूलात्मकता तो चल नहीं सकती। चन्द्रकांता संतति या अफसाने आजाद की पुनरावृत्ति नहीं हो सकती।

जाती है यह मेरे लिये नेत्रोन्मीलक सा हुआ। यह चोट यदि सह्य बनाई जा सकती है तो और आघातों का भी इसी फारमूले से सामना किया जासकता है।

पर इस दिल्ली यात्रा का महत्व इन वैयक्तिक बातोंमें नहीं है कि मेरा पाकेट कट गया, या मुझे यह शिक्षा मिली परन्तु इसमें है कि मुझे कुछ साहित्यिक तपस्वियों और साधकों से मिलने का अवसर मिला जिन से आज तक अपने प्रारब्ध कर्मों के अवरोध के कारण मैं मिल न सका था। सोचा कि चलो एक ओर पाकेट से कुछ गिर गया तो दूसरा पाकेट तो भरा। मैं कुछ महान आत्माओं के सौजन्य, बन्धुत्व से समृद्ध होकर तो आया। महात्मा गाधी के पाकेट में कुछ भले ही न हो पर अली भाई तो उनके पाकेट मे ही भूलते थे। सो राष्ट्रकवि डा० मैथिली शरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालकार इत्यादि की खैर सहृदयता, सद्भावना भी यदि मेरे में हृदय में जो पाकेट के आस पास ही रहता है रहे तो फिर कैसी रिक्तता। यह तो एक ऐसी पूर्णता है जो विश्व को ललकारने की क्षमता दे सकती है।

तो दिल्ली पहुँचते ही अपने चिरपरिचित बधु जैनेन्द्रजी को फोन से कहलवाया कि मैं दिल्ली आ गया हूँ। आप संभल जाइये और मेरा सामना करने के लिये तैयार हो जाइये। मुझ से मिलना मेरा सामना ही करना है कारण कि मित्रों को लिख कर बातें करनी पडती हैं अथवा मैं किसी अपने साथी दुभाषिये के द्वारा ही सुन सकता हूँ। ये दोनो परिस्थितिया मेरे मित्रों के लिये कडी परीक्षा की घडी साबित होती होंगी ऐसी भावना मेरे मन मे काम करती रहती है। हालाकि वे बडी ही सहानुभूति प्रद मनःस्थिति मे रहते हैं। जैनेन्द्र ने तपाक से कहलवाया कि मैं सदा तैयार ही रहता हूँ. मैं उस महा जागरण की चिंगारी हूँ कि मुझे कोई ऊघते हुए नहीं पकड़ सकता। सो आप आ जाइये। मेरे मित्र नवयुवक कोचरजी ने जैनेन्द्रजी से कुछ प्रश्न किये। वे भी डेगाडेगी दे रहे हैं। प्रश्न करते ही क्या भला। पर उन्होने पूछा ही

"आप को साहित्य-सृजन की प्रेरणा कहा से मिलती है?"

"घटनात्मक बाहर से, भावात्मक अन्दर से"

"आप अपनी कृतियों मे सब से श्रेष्ठ किसे मानते हैं?"

"मैं इसके बारे में क्या कह सकूगा? यह तो दूसरे कहें। मैं अपने बच्चों मे किसे अच्छा कहूँ और किसे नहीं?"

"लोगों का कहना [illegible] को जो कुछ आप से मिलना [illegible] चुका। [illegible] कि प्रश्नोत्तर

शैली और तात्विक चिन्तन के सहारे आप अपना कोई विशेष कला या साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्त की स्थापना करने का उपक्रम कर रहे हैं ?"

"मैं नहीं जानता मैंने क्या लिखा है क्या नहीं मेरे पास ज्ञान का वल नहीं। मेरे हृदय से जरिए कलम की या जिह्वा की नोक से चंद पंक्तियां या शब्द सामने आ गये। उनको लोगों ने कह दिया उपन्यास, कह दी कथा, कह दिया तात्विक चिन्तन। यह उनकी महिमा है। पर मेरे लिये तो सब एक ही है, सब का मूलश्रोत एक है। मैं नहीं जानता कि मैं कोई कला या साहित्य विषयक नया सिद्धान्त या वाद का निर्माण कर रहा हूँ। शायद नहीं।"

मैं इस अफसाना को वड़े ध्यान से समझने का प्रयत्न कर रहा था। कहा मैंने "जैनेन्द्रजी, एक वात का रहस्य वतलाइये। मैं आज १० वर्षों से प्रोफेसरी कर रहा हूँ, पुस्तकें दिन रात पढता रहता हूँ, मेरे पास एक अच्छी लाइब्रेरी है पर फिर भी ऐसा मालूम होता है कि मैं जहां का तहां रह गया, अपने में किसी तरह की समृद्धि नहीं मालूम पड़ती। यदि प्रेमचन्द पर भी कोई लक्चर देने को कहे तो बिना तैयारी के मैं कुछ नहीं कह सकता। और आप हैं कि जो कुछ कह देते हैं, जहां जिस विषय पर वोल देते हैं वही साहित्य हो जाता है। आपको मेरे जितना तो अध्ययन अध्यापन का समय ती नहीं ही मिलता होगा" कहा उन्होंने "अज्ञान (Non-Kuowing) ही, मैं समझता हूं, मुझे Fresh ताजा बनाये रहता है। यही मेरा सब से वड़ा वल है" मैंने मन में सोचा और कहा भी "आप अपने अज्ञान को जानते हैं यह तो सब से वडा जानना है। मैं तो अपने इल्म को ही जानता हूँ। जानने के लिये तो वहुत हैं। पर नहीं जानने के लिये तो एक ही है।"

मै अभी तक अपने व्यक्तित्व के अन्दर हिन्दी काव्य की अर्द्ध-शताब्दी प्रगति को सिमटाने वाले राष्ट्र कवि डा० मैथिलीशरणगुप्त के दर्शनों से वंचित ही था। जैनेन्द्रजी ने मेरी ओर से मेरे लिये उन से समय मांगा। उत्तर आया अभी चले आवो तैयार ही वैठा हूँ। कहा है कि साहब ऐसा गरीब निवाज होता है कि जाके पद पनही नहीं ताहि दीन्ह गजराज" महान विभूतियों की यही महत्ता है। मैं अनेक व्यक्तियों से मिला हू, उनके गर्व-स्फीत मुद्राओं को देखा है, और मेरे जैसे वधिर व्यक्ति के पाले पड़ जाने पर तो उन्हें झुंझला कर सर पटकते देखा है और देखा है कि उनके

तो इसका ही साम्राज्य है। जैनेन्द्र जी ने सुना तो हसते हुए अपने दार्शनिक लहजे मे बोले, "तुम जो लिखते हो, पी एच डी लेते हो उसमें तो और भी सफाई से काम होता है" डा० नागेन्द्र से जब मैंने कहा कि भाई 'बहुत बे आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले।' तो उन्होंने कहा "कि आप १००) पाकेट में लिये फिरते ही क्यों थे? आकृति से ही मालूम हो जाता है कि आप Abnormal है ?" पता नहीं कि मुझ मे abnormality क्या है ? हा इतना ही जानता हूँ, कि बधिर हूँ, आकृति पर कुछ प्रभाव पडता ही होगा। पर किसी ने आज तक कुछ कहा नही। रह गई रुपये लिये फिरने की बात ? सो क्या बताऊँ? जोधपुर से जल्दी मे जो चला तो सूटकेस में ताला नहीं था। अत सोचा यही कि यहा रुपये छोड़ने जाऊँ। कही नौकर चाकर ले लें तो ? रुपये के रुपये जाँय अपने आतिथेय को भी शर्मिन्दा करूँ। मुझे लड़कपन के दिन याद थे। किसी विवाह शादी के निमत्रण के अवसर दूर दूर से सगे सम्बन्धी लोग आते हैं और दो एक रोज ठहर कर चले जाते है। सबो के ठहरने की व्यवस्था एक कमरे मे की जाती है। ऐसे अवसर पर प्राय: जेब से रुपये गायब हो जाते हैं। एक तो शर्म के मारे कोई चर्चा ही नहीं करेगा। करे भी तो घरवालों को थोडी परशानी अवश्य हो। पर दो एक दिन मे सब तितर बित्तर हो जाते हैं, कौन किसका पता लगाये। सो मैं सोचता था कि मैं अपनी ओर से ऐसी परिस्थिति क्यों आने दूँ।

पाकेट कटा और सौ रुपये गये तो जरूर। पर मुझे बडी खुशी हुई और इसमें भी मुझे परमात्मा की दया का सकेत ही दिखलाई पडा। खुशी व्यक्तिगत बात है अत उसकी चर्चा बाद मे करूँगा। पर परमात्मा की दया की बात ही पहले। मेरी कलम बच गई। बच यों गई कि एक दिन पहले ही जैनेन्द्रजी के यहा गया था। वहीं वह छूट गई थी। रुपये को जाना था गये कलम को रहना था रह गई। इसे परमात्मा की दया न कहूँ तो क्या कहूँ उसी तरह दो वर्ष पूर्व जब जयपुर से आ रहा था तो किसी ने एक मेरा सूट केस चुरा लिया। पर मैंने भगवान को धन्यवाद ही दिया कि न जाने किस रहस्यमय कारण से मेरी थीसीस की कापी वहा न होकर थैले मे थी। हाला कि थीसीस की जगह थैला न होकर सूटकेस ही है। आज सोचता हूँ कि यदि थीसीस की पाण्डुलिपि भी अपनी ठीक जगह पर होती तो छठी के दूध आ गये होते। मेरी दुर्घटना सुनकर डिनकरजी ने कहा "बडा अच्छा हुआ। नहीं, अभी गत १२ दिसम्बर को इसी दिल्ली मे बस पर से किसी ने मेरी

थैली उड़ाली जिसमें पांच पाण्डुलिपियां थीं। मैं हाय कर रह गया।" सो मैं तो भगवान की दया ही कहूँगा कि इतना सस्ते ही छूटा। नहीं तो मेरे जैसा बुद्धू—कहना सुनना राम भरोसे—जो कुछ न गवां बैठे थोड़ा ही है।

मैंने ऊपर कहा था कि मुझे खुशी भी हुई। इसके कई कारण हैं। यह मेरे जीवन की नई अनुभूति थी। आज तक सुनाही करता था कि पाकेटमार होते हैं जो लाख सावधान रहते भी अपना काम कर ही लेते हैं। और मैं था जो इन बातों पर हंसता था। "मैंने तो हजारों रुपये इसी जवाहर पाकेट में हजारों रुपये रख कर न जाने कितनी वार दिल्ली और बम्बई की यात्रा की हैं। हूंह यह भी कोई बात है कि कोई पाकेट काट ले।"...सो गर्व का भार थोड़ा सा घटा और आत्मा में थोड़ी स्फूर्ति सी आई। मैं अपने मित्रों पर, उनकी किसी दुर्बलता पर हंसता हूँ मानो मैं उनसे ऊँचा होऊँ पर जब कभी उसी दुर्बलता के चंगुल में अपने को भी गिरफ्तार देखता हूँ तो कुछ प्रभु की इसी 'गर्व प्रहारी' दया का अनुभव करता हूँ। दूसरी बात कि जिस सफाई तथा कौशल से पाकेट काटा गया था उसको देख कर किसे प्रसन्नता नहीं होगी। जिसे न हो वह जड़ है, पत्थर है, "अरसिकेषु काव्य निवेदनम् है।" मृच्छकटिक के शार्विलिक की याद ही आई जिसने चौर-कर्म-सम्बन्धी अपने शास्त्रीय ज्ञान का परिचय दिया है। मैं सोचने लगा कि शर्विलिक ने जो पांच प्रकार के सेंध की आकृति का वर्णन किया है उनमें से मेरे पाकेट की कटी आकृति किस श्रेणी में आती है। सच मानिये जब मैंने अपने पाकेट पर अर्द्ध चन्द्राकार देखा तो बस मन में यही हुआ है कि कोई काव्य का ऐसा धीरोदात्त या धीरललित नायक जो नखक्षत करने में इतने पाटव का दावा कर सकता है। जयंत सीता की कंचुकी पर चोंच मार कर भागा तो कवि ने यह कहा कि मानो वह राम को शिक्षा दे रहा था कि नखक्षत कैसे करना होता है। मैं सोचने लगा कि इस पाकेट मार ने मुझे क्या शिक्षा दी? तीसरी बात जो सब से महत्वपूर्ण है यह कि किसी दुर्घटना को शान्त चित से ग्रहण करने पर उसकी खुरदुहारट किस तरह दूर हो जाती है और वह दुखती नहीं इसकी शिक्षा मिली। मैं बहुत दुर्बलचित्त व्यक्ति हूँ। बातें तो बड़ी बड़ी करता हूँ "परोपदेशे पाण्डित्यम्" का तो अवतार ही हूँ। पर थोड़ी सी विपत्ति पर घबरा जाता हूँ। पर यह जो दुर्घटना हुई तो जरा भी न घबरा कर अपने कार्यक्रम को जारी रखा। कारण कि यह कोई ऐसी दुर्घटना नहीं थी जो पहाड़ की तरह मुझे दबोच ले। पर दुर्घटना तो थी हीं। चोट तो थी ही। चोट को तटस्थ भाव से ग्रहण करने से कितना वह सह्य हो

जाती हैं यह मेरे लिये नेत्रोन्मीलक सा हुआ। यह चोट यदि सह्य बनाई जा सकती है तो और आघातों का भी इसी फारमूले से सामना किया जासकता है।

पर इस दिल्ली यात्रा का महत्व इन वैयक्तिक बातोंमें नहीं है कि मेरा पाकेट कट गया, या मुझे यह शिक्षा मिली परन्तु इसमें है कि मुझे कुछ साहित्यिक तपस्वियों और साधकों से मिलने का अवसर मिला जिन से आज तक अपने प्रारब्ध कर्मों के अवरोध के कारण मैं मिल न सका था। सोचा कि चलो एक ओर पाकेट से कुछ गिर गया तो दूसरा पाकेट तो भरा। मैं कुछ महान आत्माओं के सौजन्य, बन्धुत्व से समृद्ध होकर तो आया। महात्मा गांधी के पाकेट में कुछ भले ही न हो पर अली भाई तो उनके पाकेट में ही भूलते थे। सो राष्ट्रकवि डा॰ मैथिली शरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार इत्यादि की मैत्र सहृदयता, सद्भावना भी यदि मेरे में हृदय में जो पाकेट के आस पास ही रहता है रहे तो फिर कैसी रिक्तता। यह तो एक ऐसी पूर्णता है जो विश्व को ललकारने की क्षमता दे सकती है।

तो दिल्ली पहुँचते ही अपने चिरपरिचित बंधु जैनेन्द्रजी को फोन से कहलवाया कि मैं दिल्ली आ गया हूँ। आप सभल जाइये और मेरा सामना करने के लिये तैयार हो जाइये। मुझ से मिलना मेरा सामना ही करना है कारण कि मित्रों को लिख कर बातें करनी पडती हैं अथवा मैं किसी अपने साथी दुभाषिये के द्वारा ही सुन सकता हूं। ये दोनो परिस्थितियां मेरे मित्रों के लिये कडी परीक्षा की घडी साबित होती होंगी ऐसी भावना मेरे मन में काम करती रहती है। हालांकि वे बडी ही सहानुभूति प्रद मन: स्थिति में रहते हैं। जैनेन्द्र ने तपाक से कहलवाया कि मैं सदा तैयार ही रहता हूँ, मैं उस महा जागरण की चिंगारी हूँ कि मुझे कोई ऊंघते हुए नहीं पकड सकता। सो आप आ जाइये। मेरे मित्र नवयुवक कोचरजी ने जैनेन्द्रजी से कुछ प्रश्न किये। वे भी डेंगाडेंगी दे रहे हैं। प्रश्न करते ही क्या भला। पर उन्होंने पूछा ही

"आप को साहित्य-सृजन की प्रेरणा कहां से मिलती है ?"

"घटनात्मक बाहर से, भावात्मक अन्दर से"

"आप अपनी कृतियों में सब से श्रेष्ठ किसे मानते हैं ?"

"मैं इसके बारे में क्या कह सकूंगा ? यह तो दूसरे कहें। मैं अपने बच्चों में किसे अच्छा कहूँ और किसे नहीं ?"

"लोगों का कहना है कि कथा साहित्य को जो कुछ आप से मिलना था मिल चुका। आप भी यह समझते हैं। और यही कारण है कि प्रश्नोत्तर

शैली और तात्विक चिन्तन के सहारे आप अपना कोई विशेष कला या साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्त की स्थापना करने का उपक्रम कर रहे हैं ?"

"मैं नहीं जानता मैंने क्या लिखा है क्या नहीं मेरे पास ज्ञान का बल नहीं। मेरे हृदय से जरिए कलम की या जिह्वा की नोक से चंद पंक्तियां या शब्द सामने आ गये। उनको लोगों ने कह दिया उपन्यास, कह दी कथा, कह दिया तात्विक चिन्तन। यह उनकी महिमा है। पर मेरे लिये तो सब एक ही है, सब का मूलश्रोत एक है। मैं नहीं जानता कि मैं कोई कला या साहित्य विषयक नया सिद्धान्त या वाद का निर्माण कर रहा हूँ। शायद नहीं।"

मैं इस अफसाना को बड़े ध्यान से समझने का प्रयत्न कर रहा था। कहा मैंने "जैनेन्द्रजी, एक बात का रहस्य बतलाइये। मैं आज १० वर्षों से प्रोफेसरी कर रहा हूँ, पुस्तकें दिन रात पढता रहता हूँ, मेरे पास एक अच्छी लाइब्रेरी है पर फिर भी ऐसा मालूम होता है कि मैं जहां का तहां रह गया, अपने में किसी तरह की समृद्धि नहीं मालूम पड़ती। यदि प्रेमचन्द पर भी कोई लक्चर देने को कहे तो बिना तैयारी के मैं कुछ नहीं कह सकता। और आप हैं कि जो कुछ कह देते हैं, जहां जिस विषय पर बोल देते है वही साहित्य हो जाता है। आपको मेरे जितना तो अध्ययन अध्यापन का समय ती नहीं ही मिलता होगा" कहा उन्होंने "अज्ञान (Non-Knowing) ही, मैं समझता हूं, मुझे Fresh ताजा बनाये रहता है। यही मेरा सब से बड़ा बल है" मैंने मन में सोचा और कहा भी "आप अपने अज्ञान को जानते हैं यह तो सब से बडा जानना है। मैं तो अपने इल्म को ही जानता हूँ। जानने के लिये तो बहुत हैं। पर नहीं जानने के लिये तो एक ही है।"

मै अभी तक अपने व्यक्तित्व के अन्दर हिन्दी काव्य की अर्द्ध-शताब्दी प्रगति को सिमटाने वाले राष्ट्र कवि डा० मैथिलीशरणगुप्त के दर्शनों से वंचित ही था। जैनेन्द्रजी ने मेरी ओर से मेरे लिये उन से समय मांगा। उत्तर आया अभी चले आवो तैयार ही बैठा हूँ। कहा है कि साहब ऐसा गरीब निवाज होता है कि जाके पद पनही नहीं ताहि दीन्ह गजराज" महान विभूतियों की यही महत्ता है। मैं अनेक व्यक्तियों से मिला हू, उनके गर्व-स्फीत मुद्राओं को देखा है, और मेरे जैसे बधिर व्यक्ति के पाले पड़ जाने पर तो उन्हें झुंझला कर सर पटकते देखा है और देखा है कि उनके

चहरे की सिकुड़न कहती है "मैं बहुत व्यस्त हूं । बातें करने का समय नहीं पर इस व्यक्ति की आत्मा महान है । यह तो मुझे अपने अंक में इस तरह छिपा लिया जैसे मा-पक्षी अपने शावक को अपनी पांखों में छिपा ले और कहे आजा यही तेरा आश्रय स्थल है । "आज मेरी होली सार्थक हो गई । आज राष्ट्रकवि का दर्शन कर सका । न जाने यह क्यों इतना अपना होकर भी मेरे किस पाप के कारण अब तक अलग रहा । मेरे लिये यह एक ऐसा दुर्लभ क्षण है जो जीवन में कभी कभी ही आ पाता है । ये शब्द मैंने उनसे विदा होते समय कहे । और ये मेरे हृदय के प्रतिबिम्ब थे । मैं बड़ा ही अहभावी मनुष्य हूं । मेरा हृदय जल्दी किसी के सामने झुकता नहीं । इसी कारण मैं अपने मित्रों, सहयोगियों तथा अधिकारियों के बीच कभी भी प्रिय नहीं हो सका । पर जो व्यक्ति सहज भाव से ही दर्शन मात्र से ही मेरे हृदय पर अधिकार जमा ले वह सचमुच ही कोई साधारण व्यक्ति नहीं होगा । जरूर उनमें भगवान का तेज है ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा

तत्तदेवावगच्छ मम तेजोऽश संभवम्"

यही मम तेजोऽश संभव हमारा राष्ट्र कवि है । इस राष्ट्र कवि ने श्रीमती उपाध्याय के पिता स्वर्गीय महामहोपाध्याय सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन की याद बड़े गद्‌गद् कंठ से भाव भरे हृदय से की । उनकी अगाध विद्वता, उनके मनस्वी स्वभाव, विद्या व्यसन, के आगे दुनिया की सारी विभूतियों पर लात मारने वाली उनकी प्रवृत्ति की चर्चा की, कहा कि जिन परिस्थितियों में वे सम्मेलन को छोड़ कर चले आये । क्यों किसी संवेदनशील प्राणी को यह बतलाने की आवश्यकता है कि इन वैयक्तिक स्पर्शों से वार्तालाप में कितनी आत्मीयता, आर्द्रता तथा रसोत्पादकता आजाती है ।

मेरी इच्छा थी कि राष्ट्र कवि के काव्य-साहित्य के सम्बन्ध में उनके श्रीमुख से ही कुछ सुनूं । स्रष्टा यदि अपनी कृतियों की मूल प्रेरणा, उनकी सृजन प्रक्रिया इत्यादि के विषय में जो कुछ भी कहेगा वह अवश्य मनोरंजक तथा विचार प्रेरक होगा । उसमें एक तात्कालिकता होगी । अत मैंने बात छेड़ी । 'इधर कोई नई रचना हाथ में है," "नहीं, पर जय भारत आपने देखा ?" और 'जयभारत' तथा अन्य कुछ पुस्तकें मुझे मिलीं । "यह व्यक्ति क्या कर रहा है ? याद आया "अनुकूल वेदनीय सुख" पर यह है वेदना ही, पाठक मेरी वेदना का अन्दाज लगायेंगे । उनकी सहृदयता के प्रति ही मेरी वेदना निवेदित

आज प्रयोगवादी नाम से जो हिन्दी में कवितायें लिखी जा रही हैं, उनके सम्बन्ध में आपके क्या विचार है। आपने तो कोई इस तरह की कविता लिखी नहीं" "नहीं मुझ में इतनी प्रतिभा और क्षमता कहां" तब तक मेरे आदरणीय मित्र श्री भगवतीचरणजी वर्मा बोले "नही, इन कविताओं में कोई दम नहीं। मनुष्य नूनता की पीछे पागल है। नई चीजों के पीछे लपकता है। इसकी चमक कुछ दिनों तक है। स्थायित्व नहीं हैं। पर इन से कोई घबडाने की आवश्यकता नही।' इनमें का सारतत्व लेकर मानव विवेक अपनी परम्परा में समाहित कर आगे बढ जायेगा" काव्य की प्रवृत्तियों की चर्चा हो ही रही थी कि पहुँच पडे श्री नरेन्द्र शर्मा। लीजिये इसी को कहते है भाग्य। भगवान देने पर होता है तो छप्पर फाडकर बरस पडता है।

श्री नरेन्द्रजी शर्मा भी उसी गोष्ठी में थे। परन्तु मैं सब से एक साथ बात करने में असमर्थ हूं और शर्माजी से मुद्दत के बाद मुलाकात हुई थी अतः मै उनसे एक दो बात कर लेने का लोभ सम्बरण कर सका। उनके पास जा बैठा और चन्द मिनट व्यक्तिगत बातें करता रहा। बातें करने के पश्चात् पुनः राष्ट्रकवि के पास आ गया और उनसे विदा मांगने की इच्छा प्रगट की। तब तक मेरे पास ही बैठे मेरे पहले के शिष्य और अब के मित्र श्रीगोपाल पुरोहित ने सावधान किया। "हम लोग राष्ट्रकवि से मिलने आये हैं। उनसे अच्छी तरह बातें न कर यों ही चला जाना अपमान होगा" मैं थोडा रुक गया और बातें की। पर इस व्यक्ति के लिये क्या मान और अपमान। इन सब बातों से यह बहुत अधिक ऊंचा उठ गया है और एक ऐसे कल्पतरु की छांह में रहता है जहां के निवासी इन सब चीजों के 'आसी' नहीं है। यह तो 'मद्विधाः क्षुद्र जन्तवः' हैं जो मानापमान की संज्ञा में सोचा करते हैं। यह हमारा राष्ट्र कवि अमर हो, इसकी लेखनी अमर हो, और अमर हो इसकी दिव्य वाणी, इसकी मानवता तथा इसका सौहार्द।

इसके बाद हमने सोचा कि हिन्दी साहित्य के तपोनिष्ठ साधक श्री बनारसी दास चतुर्वेदीजी के भी दर्शन करते चलें। इतना समीप आ गये हैं। क्या हुआ उन्होंने कल मिलने का समय दिया है? चलो मिलते ही चलें। कोई ज्यादा बातें तो करनी है नहीं। यह व्यक्ति आज सठ्ठा होते भी पठ्ठा है। देखा कि कुछ लिखने में मग्न है। कुछ पत्रिकायें क्या ढेर की ढेर

इधर उधर पडी है। यह व्यक्ति है या कागजों के क्षीर सागर मे निमग्न विष्णु है। "मरेगा यह किताबो पर जर्क होगा कफन इसका" इसी व्यक्ति ने हिन्दी मे पत्र साहित्य का अभाव दिखलाते हुए, गांधीजी, ठगोर, एन्ड्रूज इत्यादि के कुछ पत्रों का सग्रह दिखलाते हुए कहा था

"चन्द तस्वीरे बुता, चन्द हसीनों के खतत
बाद मरने के मेरे घर से ये सामाँ निकले"

यह व्यक्ति सच्चा कर्मयोगी है, योग यदि 'कर्मसु कौशलम्' है इसके जीवित उदा हरण देखने के लिये कही और जाने की जरूरत नही। इसकी बात बात से सग- ठन, तथा जवानी फूटी पडती है। इसमें एक धुन है, लगन है। आधुनिक हिन्दी साहित्य तथा साहित्यिकों की गतिविधि से इसे असन्तोष है। विशेषत उन साहित्यकारों से जो कुछ सभावनाओं को लेकर हिन्दी साहित्य क्षेत्र मे अव- तीर्ण हुए थे पर आज उन की अह भावना ने उन्हे निगल लिया है। मै इन नवयुवक साहित्यिको, कथाकारों का प्रशसक हूँ। पर चतुर्वेदीजी का कहना है कि साहित्यकार व्यक्ति अपने साहित्य से कहीं ऊंचा होता है, जिसमें व्यक्तिगत महानता नहीं होती, गभीरता नहीं होती वह महत्वपूर्ण साहित्य का सृजन नही ही सकता। We must make choice some where This खुदाई फौज दारी तो only create confusion and leads no where। खैर जो हो, व्यक्ति और साहित्य स्रष्टा, दैनिक जीवन मे दीखने वाले तथा व्यावहारिक स्तर पर मिलने वाले प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और अज्ञेय तथा कथाकार प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और अज्ञेय को एक मे मिला कर देखने वाली दृष्टि ठीक है या नहीं इस पर बहस हो सकती है और होती भी आई है। पर हृदय को तह से निकली बातों की सच्चाई में कोई बहस नहा होती। और चतुर्वेदीजी के हृदय से बातें निकल रही थीं। वे सचमुच यह अनुभव कर रहे थे कि हिन्दी साहित्य ने Wrong turn लिया है, इस अनुभूति ने उनके हृदय मे दर्द उत्पन्न किया था और वे वतात्र हो उठते थे। वे कहते भी है कि मैं पाच मिनट मे अपने मित्रों को बदल दे सकता हूँ यदि वे worthless हो जाय तो। चतुर्वेदीजी ने अपनी तपस्या के बल पर हिन्दी साहित्य को शक्ति सम्पन्न करने मे सहायता की है। आज हिन्दी साहित्य जो कुछ भी है उसमे चतुर्वेदीजी का बहुत बडा हाथ है। यह व्यक्ति जो कुछ भी कहेगा उसमे पर्याप्त विचारोत्तेजक सामग्री होगी। मै तो बहुत सी सामग्री लेकर आया। वे आज भी मेरा पीछा कर रही हैं। मुझे सोचने के लिये बाध्य कर रही हैं।

पर चतुर्वेदीजी जो कुछ हों, साहित्यिक हों, प्रचारक हों, संगठन कर्त्ता हों पर सब से ऊपर एक मानव हैं—विशुद्ध, साफ और खुला हुआ। प्रायः लोग मुझे से बातें करते घबराते हैं, कारण कि उनको लिख लिख कर बातें करनी पडती हैं और होता है इसमें उनको कष्ट। अतः मेरी बधिरता और भी स्पष्ट होकर मुझे धिक्कारने लगती है। पर यह व्यक्ति जो मिला तो मेरे पैड के पन्ने पर पन्ने यों साफ करने गया मानो टेनिस का खिलाडी शौट लगा रहा हो। सच मानिये मैं तो बातें करते घबरा गया पर यह व्यक्ति नहीं घबराया। जिस पर उस अवस्था में जब कि मैं असमय उसके पास जा टपका था। मेरे पास कोई इस तरह बिना सूचना दिये आ जाय तो मैं आफत में पड जाता हूँ। पर मैं क्या होकर तुलना ही करने बैठ गया। तुलना तो दो समानधर्मियों में होती हैं। राजा भोज और भोजवा तेली इन दोनों की तुलना में क्या तुक ? आज का युग छीना झपटी का युग है। मानवता का हृदय टुकडे टुकडे में विभक्त हो गया है। विज्ञान ने ऊपरी सतही एकता का लेबल भले ही लगा दिया हो पर इस पपडी के नीचे घाव पतला होकर बह रहा है। यदि ऐसी बहती मानवता कभी भी अपनी राह ढूंढ पाई तो यह चतुर्वेदीजी जैसे सन्तों के द्वारा होगा जिन्होंने "हिन्दुअन की हिन्दुआई देखी और तुरुकन की तुरुकाई" और कहा 'दुहु राह नहीं पाई, संतो"

चतुर्वेदीजी की व्यवसायात्मिका बुद्धि का एक उदाहरण लीजिये। उन्होंने कहा कि चलिये मैं आपको घूमने ले चलूँ, घूमने से स्वास्थ्य ठीक रहता है। उन्होंने एक लेखक का नाम लिया शायद स्टेफन ज्विग का कि वह अपने मित्रों को दश दश मील तक घूमने के लिये ले जाता था और साहित्यिक समस्याओं पर विचार विनिमय करता था। मैंने कहा "मुझ से कैसे बातें हो सकेंगी? चलते चलते आप लिख कैसे सकेंगे?" बस जरा सा रुके और झट से कहा "इसमें कौन सी कठिनाई है? १५ मिनट चलेंगे आप की बात सुनेंगे। पुनः १५ मिनट बैठकर आप को अपनी बात सुनायेंगे। क्या आनन्द रहेगा। Study and ease together mixed—a sweat recreation; श्रम और विश्राम का कैसा सुन्दर सम्मेलन रहेगा" मनुष्य का इतिहास कठिनाइयों और बाधाओं के साथ संघर्षपूर्वक विजय की कहानी है। जीवविकास की परम्परा में मनुष्य सर्व-प्रथम स्वतंत्र प्राणी है। स्वतंत्र इस अर्थ में कि वह मनोबल तथा विवेक के बल पर सीमाओं और विवशताओं को पार कर जा सकता है। मिस हेलन केलर का उदाहरण

हमारे सामने है। मैं चतुर्वेदीजी का बहुत ही कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने बात की बात में मेरी एक विवशता को हल कर दिया कि किसी के साथ टहलते हुए बातों का क्रम किस तरह जारी रखा जाय। ज्यों ज्यों मैं अपनी विवशताओं का का हल कुछ तो अपने मनोबल से और अधिक अपने मित्रों की सहायता से पाता जाता हूँ, अपनी बधिरता जन्य कठिनाइयों पर विजयानुभूति के भाव से सचलित होता पाता हूँ त्यों त्यों मुझमें आत्म-विश्वास का भाव जागृत होता जाता है। उस दिन यहां के शिक्षा संचालक महोदय से वार्तालाप के प्रसङ्ग में कहा I am Miss Hellen Keller of Rajisthan" हां, कभी कभी दिल पर थोड़ी चोट जरूर लगती है जिस दम अपने सहयोगियों की बेरुखाई की याद आती है, जो मुझे ऐसा अनुभव करने का मौका देते है कि "I am not wanted" पर दूसरे ही क्षण चतुर्वेदीजी जब आकर कहते है कि कोई परवाह नहीं, यह श्रुति दोष वरदान भी हो सकता है तो सच मानिये इस वेदना को ही लेकर दुनिया को ललकारने लगता हूँ। मेरे जैसे व्यक्तियों के लिये, साहित्य के लिये, देश और राष्ट्र के लिये चतुर्वेदीजी जैसे महाप्राण व्यक्तियों की नितान्त आवश्यकता है।

पर सबसे अधिक दिलचस्प, अन्दर से झकझोर देने वाली बातें जिनके साथ हुई वे थे। वे आफिस में बैठे थे। धीर गंभीर मुद्रा, किताबों में गड़े से, कागजों पर चिपके से। गले से लगकर मिले। प्रथमतः शिष्टाचार की बातें। कुछ दो मिनट बाद। "आपकी थीसीस जो हिन्दी उपन्यासों पर लिख रहे थे आप, उसका क्या हुआ ?" मैंने कहा "वह तो स्वीकृत हो गई"। मैंने अपनी थीसीस की रूपरेखा बताई वह वह प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी, यशपाल इत्यादि। कहने लगे कि आलोचकों में बड़ी दल बंदी है। प्रेम-चन्द, जैनेन्द्र, और अज्ञेय से आगे बढ़कर ये आलोचक और किसी के उपन्यासों को पढ़ते ही नहीं। सवाल यह है कि आलोचक को यदि मैं अपनी पुस्तकें दूं तो वह पढ़ेगा भी। आपने मेरा अमुक उपन्यास, अमुक कहानी पढ़ी ?" "नहीं, मैं अपनी थीसीस में आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य पर मनो-विज्ञान के प्रभाव को ढूंढ रहा था। मनोविज्ञान से मेरा क्या अर्थ है यह है। मैंने श्री विष्णु प्रभाकर की एक कहानी को लेकर बताया। आप की रचनाओं में इस तरह की कोई ऐसी विशिष्ट और पुष्ट धारा नहीं मिली। अतः चर्चा वहां न कर सका। वैसे आपका कथा-साहित्य जिस आदर का पात्र है उसकी पात्रता का मैं कायल अवश्य हूँ। 'उन्होंने कहा' कहानी उर्दू में अनुवादित होती

है और वह '' 'हजार रुपयों से पुरस्कृत की गई है। उर्दू वालों ने उसका इतना कद्र किया और हिन्दी है जिसमें एक भी आलोचक की दृष्टि इसकी ओर नहीं गई। बस कुछ नहीं, दलबन्दी है, दलबन्दी। अज्ञेय '' 'जैनेन्द्र' '' 'अभी मैं' '' उपन्यास लिख रहा हूँ। इसमें पार्वत्य प्रदेश के निवासी नायक की कथा हैं। इसके लिये अभी उस प्रदेश की यात्रा कर आया हूँ। मेरी पुस्तकों की रायल्टी से जो कुछ भी पैसे मिले उन्हें खर्च कर आया हूँ। और हिन्दी के आलोचक हैं जो इन्हें पढना नहीं चाहते। बताइये न किसके लिये लिखूं ?"

"मैंने कहा उत्पत्स्यते कोऽपि समान धर्मा,
कालश्च निरवधि विपुला च पृथ्वी"

कभी न कभी तो इनको पढने वाला मिलेगा। आप आलोचकों का मुहताज क्यों बने ? कवि या कथाकार आलोचकों से या पाठकों से दाद पाने के लिये नहीं लिखता। परन्तु इस लिये कि कोई कृति उसके अन्दर से अपने रुपसृजन की अदम्य मांग से उसे प्रेरित कर रही है, उसे बेताब कर रही है। उसका रूपविधान हुआ नहीं कि उसमें स्रष्टा की कोई वैयक्तिक दिलचस्पी नहीं रह जाती। जाने कृति और पाठक। जैसा दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध हो। अपनी कृति के प्रति आपका व्यक्तिगत मोह लगा है यही प्रमाण है कि आप आत्मदान करके मुक्त नहीं हो सके हैं। रह गई दलबन्दी और जैनेन्द्र तथा अज्ञेय से आगे बढकर किसी दूसरे के कथा-साहित्य की ओर देखने की बात। पहली की बात तो नहीं कह सकता पर दूसरी बात में कुछ सच्चाई अवश्य है। जैनेन्द्र के अन्तिम दो उपन्यासों से हमारे जानते अधिकांश आलोचकों ने असन्तोष ही प्रगट किया है। 'नदी के द्वीप' से स्वयं जैनेन्द्र सतुष्ट नहीं थे पर उसका जादू विरोधियों के सर पर भी चढकर अवश्य बोला है। पर देखा भी क्या जाय ? हिन्दी कथा साहित्य पर विचार करते समय हमारे सामने एक ही प्रश्न रहना चाहिये। किसकी कृति ने कहां तक कथा-साहित्य की धारा को अग्रसर किया है। प्रेमचन्द ने कथा-साहित्य की धारा को समृद्ध किया है यह बात उनका कट्टर विरोधी भी अस्वीकृत नहीं कर सकता। जैनेन्द्र और अज्ञेय ने प्रेमचंदीय चुस्ती दुरुस्ती पर लुब्ध तथा उसी को कथा का सारतत्व मानने वाले कोमलमति पाठकों से अधिक सतर्क होकर पढने की मांग की है। यह इन्हीं दोनों की कृपा है कि हिन्दी में एक सजग और सतर्क पाठकवर्ग तैयार हो गया है और आज के भिन्न भिन्न प्रयोगों को भी धीरे धीरे हृदयगम्य कर रहा है। पर इधर के कथाकारों ने क्या किया है जो हमारी दृष्टि को खींचे। चोर बाजारी, देश विभाजन से उत्पन्न समास्यायें,

हमारे सामने है। मैं चतुर्वेदीजी का बहुत ही कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने बात की बात में मेरी एक विवशता को हल कर दिया कि किसी के साथ टहलते हुए बातों का क्रम किस तरह जारी रखा जाय। ज्यों ज्यों मैं अपनी विवशताओं का का हल कुछ तो अपने मनोबल से और अधिक अपने मित्रों की सहायता से पाता जाता हूँ, अपनी बधिरता जन्य कठिनाइयों पर विजयानुभूति के भाव से सवलित होता पाता हूँ त्यों त्यों मुझमे आत्म विश्वास का भाव जागृत होता जाता है। उस दिन यहां के शिक्षा संचालक महोदय से वार्तालाप के प्रसङ्ग मे कहा I am Miss Hellen Keller of Rajasthan" हां, कभी कभी दिल पर थोडी चोट जरूर लगती है जिस दम अपने सहयोगियों की बेवफाई की याद आती है, जो मुझे ऐसा अनुभव करने का मौका देते है कि "I am not wanted" पर दूसरे ही क्षण चतुर्वेदीजी जब आकर कहते हैं कि कोई परवाह नहीं, यह श्रुति दोष वरदान भी हो सकता है तो सच मानिये इस वेदना को ही लेकर दुनिया को ललकारने लगता हूँ। मेरे जैसे व्यक्तियो के लिये, साहित्यके लिये, देश और राष्ट्र के लिये चतुर्वेदीजी जैसे महाप्राण व्यक्तियो की नितान्त आवश्यकता है।

पर सबसे अधिक दिलचस्प, अन्दर से झकझोर देने वाली बातें जिनके साथ हुई वे थे। वे आफिस में बैठे थे। धीर गभीर मुद्रा, किताबों मे गडे से, कागजों पर चिपके से। गले से लगकर मिले। प्रथमत शिष्टाचार की बातें। कुछ दो मिनट बाद। "आपकी थीसीस जो हिन्दी उपन्यासों पर लिख रहे थे आप, उसका क्या हुआ ?" मैंने कहा "वह तो स्वीकृत हो गई"। मैंने अपनी थीसीस की रूपरेखा बताई यह वह प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी, यशपाल इत्यादि। कहने लगे कि आलोचकों मे बडी दल बंदी है। प्रेम-चन्द, जैनेन्द्र, और अज्ञेय से आगे बढकर ये अलोचक और किसी के उपन्यासो को पढते ही नहीं। सवाल यह है कि आलोचक को यदि मैं अपना पुस्तकें दू तो वह पढेगा भी। आपने मेरा अमुक उपन्यास, अमुक कहानी पढी ?" "नहीं, मैं अपनी थीसीस में आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य पर मनो-विज्ञान के प्रभाव को ढूंढ रहा था। मनोविज्ञान से मेरा क्या अर्थ है यह है। मैंने श्री विष्णु प्रभाकर की एक कहानी को लेकर बताया। आप की रचनाओं मे इस तरह की कोई ऐसी विशिष्ट और पुष्ट धारा नहीं मिली। अत चर्चा वहां न कर सका। वैसे आपका कथा-साहित्य जिस आदर का पात्र है उतनी पात्रता का मैं कायल अवश्य हूँ। ' उन्होंने कहा" कहानी उर्दू मे अनुवादित होती

था कि चिन्तन और मनन का प्रभाव मनुष्य की वाह्य आकृति पर भी पडता है। हनुमान जव अशोकवाटिका में स्थित राममूर्तिध्यानरत सीता को देख कर आये तो उन्होंने राम को चेतावनी दी कि हे राम यदि आप सीता के उद्धार का प्रयत्न शीघ्रतिशीघ्र नहीं करते तो विलम्ब होने पर आप वहां जाकर सीता को न पाकर राम को पायेंगे क्योंकि सीता अहर्निश आप के ध्यान में इस तरह निमग्न है कि उसकी आकृति वदलती जा रही है और वह सीता न रह राम हो जायगी और राम वहां जाकर दूसरे राम को देखकर आश्चर्य चरित हो जायेंगे। मैंने मन में सोचा कि आज तो सेक्स परिवर्तन के उदाहरण, डाक्टरी सहायता और चीरफाड के सहारे ही सही, तो पढ़ने को मिले हैं। पर भिषग् शिरोमणि हनुमान जिन्होंने मृत-प्राय लक्ष्मण को को प्राण-दान दिया वे किसी शास्त्रीय और शस्त्रीय (शल्य-क्रिया) की कल्पना कर रहे थे क्या ? खैर जो हो, कि इस अज्ञेय दाढी ने तो मुझे आश्चर्य में डाला अवश्य। और यह मेरी कोरी कल्पना ही नहीं है। मैंने वार्तालाप के सिलसिले में कहा "अज्ञेयजी, हिन्दी में राई को पर्वत करे और पर्वत राई माहिं वाली धांधली तो है ही पर भाई, अंग्रेजी में भी यह कम नहीं। वास्तव में यह धांधलीवाजी वाली कला तो हमने उनसे ही सीखी है। हेमिंग्सवे इतने लव्ध प्रतिष्ट उपन्यासकार हैं उनकी एक पुस्तक अभी हाल ही में प्रकाशित हुई है The old man and the sea मुझे तो उस पुस्तक में कोई खास वात नहीं मिली और न वह मुझे तल्लीन कर सकी और सुना कि इसी पुस्तक पर नोवल प्राईज मिली है।" अज्ञेयजी ने कहा मुझे तो वह वडी अच्छी लगी। हां, प्राईज इस पुस्तक पर नहीं मिली है। लेखक पुरस्कृत है" इस पुस्तक की तारीफ सत्यार्थीजी ने भी की थी। क्यों न हो। दाढी तो इनकी भी है भले ही वह हेमिंग्सवे कट की न होकर टैगोर कट की हो। पर दाढी के प्रति सहानुभूति तथा वफादारी तो होनी ही चाहिये।

दूसरे दिन अज्ञेयजी को मेरे घर आना था। वे तो आये ही साथ में दिनकर भी आ गये। अरे दिनकर तुम कहां थे ! विश्व के क्षितिज पर तो रोज ही उगते हो पर मेरे हृदय के आकाश पर तो इतने वर्षों के वाद उगे हो, इस छ वजे संध्या समय। तुम से कितनी वातें करता था, युवक आफिस में, उस मठिया में और आज इस वीकानेर के हाउस के राजकीय भवन में इस कोमल हृदय की तरह उछलते साफे पर वैठ कर भी वाते करने में असमर्थ हूँ।

नेताओं की नैतिक भग्नता, विज्ञान द्वारा प्रस्तुत किये गये विभिन्न विध्वंसक अस्त्रों की समस्या अब उपन्यासों का उपजीव्य होने लगी हैं। पर यह तो कोई महत्व पूर्ण बात नहीं। इसके बल पर तो कोई पुनता नहीं सकता। इनका रहना तो अनिवार्य है। प्रेमचन्द के समय ये समस्यायें नहीं थीं, उनके उपन्यास में भी नहीं आईं। आज हैं, आई हैं। पर एक घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी और कुम्हार दो ही को कारण होने का गौरव प्राप्त है, हालांकि अन्य पदार्थ जैसे आकाश, वायु, गदहा जिस पर मिट्टी लाई गई थी, इत्यादि भी कम उपयोगी न थे। हमें देखना है कि इधर के उपन्यासकारों ने कुछ अस्ल में, ट्यार में या तर्ज अदा में क्या परिवर्तन किया है। आप ही बताइये न कि इस दृष्टि से हम किसको क्या कहें ? सुना है, धर्म भारती का "सूरज का सातवां घोड़ा, 'रेणु का' मैला अचल नामक उपन्यास में कुछ इस तरह की उल्लेखनीय बात हुई है। पर अभी मैंने इन्हें पढ़ा नहीं है।"

मैंने कहा "जाने दीजिये। यह सब पचड़ा। यह तो बताइये कि इधर आप एक दो वर्षों के अन्दर अपने दो बड़े बड़े उपन्यास लिख डाले तीसरा भी प्राय समाप्त ही है। यह शक्ति, प्रेरणा और प्रतिभा कहां से प्राप्त होती है ? मैं इतना परिश्रम करके भी कुछ कर धर नहीं पाता। कहने लगे "क्या कहूं इसके बारे में। कोई शक्ति जाग पड़ी है। बस यही समझिये कि मृत्यु से डरता हूँ, मैं मरना नहीं चाहता, मैं जीवित रहना चाहता हूँ। यह आफिस और कुर्सी भी मेरी कब्र नहीं बन सकती। मैं जल्दी से जल्दी यहां से मुक्त होना चाहता हूँ। तब आप मेरी लेखनी का चमत्कार देखेंगे। मुझे अब आलोचकों की परवाह नहीं। आलोचक जीयें ! अब उन्हें अपनी किताबें भी नहीं देता। कारण कि एक तो वे बिक रही हैं और दूसरे अब तो कुछ ने उन पर लिखना भी शुरू किया है"

इस यात्रा में मैं अज्ञेय और दिनकर को भूल नहीं सकता। अज्ञेयजी को मैंने बहुत वर्षों के बाद देखा था। पहले के क्लीन शेव्ड चेहरे पर जो दाढ़ी देखी तो हेमिंग्वे (अमेरिका के प्रसिद्ध उपन्यासकार) का चित्र सामने आ गया। मन में सोचा कि कोई आश्चर्य की बात नहीं कि हिन्दी के इस कथाकार के साहित्य में हेमिंग्वे-नुमा तर्ज देखने को मिलता है। हो न हो ज्ञात या अज्ञात रूप में नई दुनिया की इधर में तैरती हुई लहर को पुरानी दुनिया की दिल्ली नगरी के रेडियो स्टेशन में स्थित कोई संवेदनशील तथा सशक्त यन्त्र पकड़ कर आत्मसात् करता हो। मैंने किसी मनोविज्ञान के ग्रन्थ में पढ़ा

कथा में अलौकिक तत्व

कथा साहित्य में भूत प्रेतों, परियों देवदूतों तथा हृदय को हृडकम्पोद्वे-लित कर देने वाली रोमांचक कहानियों का सदा से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इन कथाओं में अलौलिक तत्वों का समावेश रहता है, ऐसी ऐसी अनहोनी सी लगने वाली घटनाओं तथा असम्भव से लगने वाले पात्रों की चर्चा रहती है कि पढकर पाठकों का हृदय अपूर्व रहस्यमयता से ओतप्रोत हो जाय। प्राचीन काल में ऐसी कथाओं का वाहुल्य था तो इसके कारण भी सहज ही ढूंढ लिये जा सकते हैं। उस समय लोगों का बौद्धिक विकास नहीं हो सका था, अतिमानवीय, अमानवीय या अलौकिक घटनायें उनके लिये यथार्थ थीं, उनकी बुद्धि धर्मप्रवण होती थी अतः उनके लिये इनके साथ सामंजस्य बैठा लेना कठिन नहीं था। ऊषा के जागरण में, मध्यान्ह के तपन में, मेघों के गर्जन तथा आंधी के तर्जन के पीछे काम करने वाली एक अदृश्य शक्ति में विश्वास कर लेना उनके लिये कठिन नहीं था। ऐसी अवस्था में उनके सा-हित्य में, लिखित या मौखिक में, भूत, प्रेत, वैताल या इनके समानधर्मी व्यक्ति विचरते हुए दिखलाई पडें तो यह स्वाभाविक ही था, इसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं। पर इस पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता जब हम पाते हैं कि आज भी ऐसे अलौकिक तत्वों से पूर्ण कथासाहित्य का साम्राज्य ज्यों का त्यों है। जैनेन्द्र आधुनिकतम युग के कथाकार हैं और उनकी कल्याणी अधुनातन युग का प्रतिनिधित्व करने वाली नारी है पर फिर भी वह एकाधिक वार ऐसी आवाज सुनती है जैसे कोई वच्चा घिघिया रहा हो, जिसकी हत्या की जा रही हो। उन कहानियों तथा उपन्यासों की वात ही छोडिये जो भूतों और प्रेतों को ही लेकर लिखे गये हैं।

कलियों के यौवन बीते,
अलियों के भाग्य सिराये
तब तुम मेरे उपवन में
हंसते हंसते हो आये।

प्रसन्नता से भरी छाती फट जाय। शतधा विच्छिन्न हो बिखर जाय तुम्हारे सामने!! अरे भले आदमी, जरा पहले सूचना भी देते। हृदय को जरा तैयार कर लेना। इस लघु वर्तमान पर जिस विशाल अतीत को लेकर तुमने एकदम धावा बोल दिया। बस समझ लो हिरोशिमा पर अणुबम की वर्षा है। अब लो इस हृदय को पैरों से कुचल दो। यह तर जाय!!

अज्ञेय से अनेक बातें हुईं। उन से बातें करना सदा लाभप्रद होता है। उनमें ज्ञान सम्पन्नता है, विस्तृताधीतत्व है और वे कथा साहित्य के बारे में बहुत ही उपयोगी बातें कह सकते हैं। उनसे उनके साहित्य तथा थीसीस में मैंने जो उन पर लिखा था उस पर बातें होती रहीं। पर बातें तो कुछ निजी थी और कुछ इतनी गभीर थी कि उनके लिये अधिक समय और स्थान की अपेक्षा है। मैं उन पर किसी दूसरे लेख में प्रकाश डालूंगा।

यही हमारी दिल्ली यात्रा है।

या विषय प्रतिपादन की गुरुगंभीरता में थोडी सी स्फूर्ति लाने के लिये मन फेरवन' के रूप में, दृष्टान्त की तरह एक कहानी से मिलती जुलती चीज जोड देता था। इसका उद्देश्य प्रायः होता था नैतिक शिक्षा देना या कोई उपदेश देना। कहने का अर्थ यह कि कहानी की योजना बहुत ही हलके फुल्के ढंग से निवन्ध की शोभा वृद्धि के लिये की जाती थी। ले हन्ट, एडिशन स्टील की निवन्ध कला में कहानियों के एतादृश रूप के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं।

अलौकिक कथा के निर्माताओं ने अपने प्रारंभिक काल में इन्हीं निवन्ध लेखकों से कुछ संकेत सूत्र उधार लिये और उनका प्रयोग अपने क्षेत्र में अपनी-अभीष्टसिद्धि के लिये करना प्रारंभ किया। उन्होंने देखा ये निबन्ध लेखक अपने निवन्ध में चमत्कार, प्रभावोत्पादकता एवं रोचकता का समावेश करने के लिये अलौकिक कथा जैसी चीज का पुट दे देते हैं। क्यों न इसी प्रक्रिया को उलट दिया जाय और अलौकिक कथाओं के कलेवर में यत्र तत्र विज्ञान, दर्शन तथा तात्विक चिन्तन-सम्बन्धी लघु निबन्धों की योजना की जाय। ऐसा करने से पाठकों की बुद्धि को अपील कर उन्हें इस लचीली मनःस्थिति में रखा जा सकता है जहां वह अलौकिकता के प्रति विरोधी भावों को छोड कर उसे ग्रहण करने के लिये तैयार हो जाये। बात एक ही थी। पूर्व के निवन्धकार भी कथाओं की योजना करते थे, ये कथाकार भी निवन्ध का आश्रय लेते थे पर अन्तर था Emphasis का। एक निवन्धकार था, दूसरा कथाकार। एडगर एलेन पो की प्रायः सब कहानियों में यही प्रवृत्ति पाई जाती है इसके लिये ये कहानियां द्रष्टव्य हैं The gold Bng (1843), The imp of the perverse (1845), The fad in the case of Valdemar (1845) and 'A measmeric revelation (1845) आगे चलकर Bulwer Lytton की कहानी The Haunted and the Haunters में तथा Joseplt Sheridon Le Farm की कहानी Green Tea 1861 में भी यही प्रवृति अर्थात् निवन्धों के सहारा लेने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

निवन्ध के गर्भ से ही कहानी की उत्पत्ति हुई। यह बात अंग्रेजी साहित्य की गति विधि के पर्यवेक्षण से ही नहीं हिन्दी साहित्य के इतिहास से भी प्रमाणित होती है। भारतेन्दु युग की साहित्य धारा मुख्यतः निबन्धों के मार्ग से ही प्रवाहित होती थी पर उनमें कथाओं का प्रवेश हो चला था और कथाओं के नाम से जो चीजें प्रचलित थीं उनमें निवन्धात्मकता का ही रंग

मध्यकालीन युग धार्मिक अंधविश्वास का युग कहा जाता इसमें मानव बुद्धि मेघाच्छन्न थी, उसके ऊपर पर्दा पड़ा हुआ था। अत वह एक ठूठ वृक्ष मे मानव की आकृति देख उसे भूत समझ लेती थी अथवा पत्तों की खड़खड़ाहट मे दैत्य का अट्टहास समझ लेती थी यह ठीक था। पर पुनर्जागरण युग के बाद ज्यों ज्यों तर्क और बौद्धिकता की प्रखर किरणें हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करने लगीं त्यों त्यों हम भूत प्रेतों का अपने साहित्यक्षेत्र से तिरोहित होते जाने की आशा करते थे। पर साहित्य का अध्ययन कुछ दूसरी ही कथा कह रहा है। ज्यों ज्यों आधुनिक युग के प्रवेश और विकास के साथ बौद्धिकता विचारों के क्षेत्र मे पैर जमाने लगी है त्यों त्यो अलौकिक कथायें भी अपनी सत्ता की घोषणा करने लगी हैं मानों विरोधी परिस्थितियों ने उनकी आन्तरिक शक्ति को उभाड़ा हो। आज तो कुछ वैज्ञानिक भी भौतिक विज्ञान को आध्यात्मिक रग मे देखने लगे हैं, तार्किक लोग भी बुद्धिवाद की सीमा पहचानने लगे है। पर १६ वीं शताब्दी तो Rationalism की पराकाष्ठा थी। उसी समय विशुद्ध अलौकिक कथा का जन्म हुआ। इसके पूर्व दो साहित्यिक युगों का इतिहास हमें उपलब्ध है। शीक्सपियरीयन युग और गाथिक उपन्यासों का युग। शीक्सपियर के नाटकों मे भी भूत प्रेत और परियों की कथायें जुड़ी रहती थीं और गाथिक उपन्यासों की कथाशृंखला के रूप में अलौकिकता की कड़ियाँ यत्र तत्र जुड़ी रहती थीं। पर अंग रूप मे अगी रूप में नहीं, प्रधान कथा से उनका अगागी सबध रहता था। ऐसा नहीं होता था कि वे स्वतन्त्र रूप से अपने पैरों खड़ी हो अपने अस्तित्व की घोषणा करें। पर १६ वीं शताब्दी के अन्त में अलौकिकता उपन्यासों तथा नाटकों के सरक्षण से पृथक होकर अपने विशुद्ध रूप मे सामने आ गई और अपनी नियति के पथ का निर्माण करने लगी। प्रथम बार विशुद्ध अलौकिक कथाओं ने अपने स्वरूप को प्रगट किया।

विशुद्ध अलौकिक कथातत्व से हमारा क्या अभिप्राय है? इसका स्पष्टीकरण दो उपायों से हो सकता है। प्रथमत तो अलौकिक कहानियों के विकास-प्रगति के गति विधि समावलोकन से यह देखने से कि इनका क्या रुख रहा है, साहित्य के अन्य रूपविधानों की लपेट मे स्वतन्त्र होने के लिये इसे कैसे कैसे सघर्ष करने पड़े पड़े हैं। द्वितीय साधन यह है कि देखा जाय कि आज की अलौकिक कथा, भूत प्रेत की कहानियाँ अपनी सजातीय पूर्वजों मे किन किन बातों मे भिन्न है। १८ वीं शताब्दी के साहित्यिक इतिहासावलोकन से स्पष्ट होता है कि कहानियों का स्वतत्र रूप नहीं था। लेखक किसी निबन्ध मे

एक एक व्यवहार को परखने का प्रयत्न किया है और आज के मनोवैज्ञानिक कथाकार जैसे जेम्स ज्वाईस, विरजीनिया उल्फ और डरोथी रिचर्डसन, इत्यादि भी वही कर रहे हैं। परन्तु दोनों में एक विशेष अन्तर है और इसी अन्तर के कारण हम एक को मनोवैज्ञानिक कथाकार कहेंगे दूसरे को नहीं। और यह अन्तर वर्ण्य वस्तु का है। पूर्व के उपन्यासकार आदमी की क्रियाओं और उसके हेतु का वर्णन करना ही अपना प्रधान लक्ष्य समझते थे अर्थात् उनका ध्यान external man तक, मनुष्य के बाहरी रूप तक ही सीमित रहता था। यदि थोड़ी बहुत आन्तरिकता आ जाती थी तो वह महज मामूली सी चीज होती थी। वे मनुष्य की त्वचा के ऊपर ही ऊपर अपना ध्यान केन्द्रित रखते थे और उनकी कला की किरणें यदि थोडी बहुत अन्दर प्रवेश करती भी थीं तो वह skin deep होता था। परन्तु आज के कथाकार का उद्देश्य internal man का चित्रण करना होता है अर्थात् उसकी दृष्टि मनुष्य के बाहरी डील-डौल से अधिक आन्तरिक सूक्ष्मता की ओर ही रहती है। उसकी रचना का आधार मनुष्य की आन्तरिक मानसिक सत्ता और क्रियायें होती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो इन दो तरह के कथाकारों में वही अन्तर है जो आचरणवादी मनोवैज्ञानिक विचारपद्धति में और मनोविश्लेषणवादी विचारपद्धति में है। आचरणवादियों के लिए मनुष्य की आन्तरिक सत्ता का महत्व नहीं। वे मनुष्य को बाहरी क्रियाकलापों के माध्यम से ही समझना चाहते हैं। मनोविश्लेषणवादियों की दृष्टि में मनुष्य की अन्तस्थ और अज्ञात प्रवृत्तियां ही सब कुछ होती हैं। पूर्व के उपन्यासकार जिनकी दृष्टि external man पर ही केन्द्रित रहती थी, वे आचरणवादियों के अधिक समीप हैं और आज के कलाकार मनोविश्लेषणवादियों के। एक बहिर्मुखी है दूसरा अन्तर्मुखी। दर्शन की दृष्टि से देखने पर इन दो प्रकार के कथाकारों में वही अन्तर दिखलाई पड़ेगा जो आधिभौतिकवाद तथा अस्तित्ववाद में है। अतः समग्र रूप से देखें तो इन दो तरह के कथाकारों का अन्तर वही है जो 'करोति' और 'अस्ति' में है। एक इस बात पर ध्यान देता है मनुष्य क्या करता है और दूसरा यह बतलाना चाहता है कि मनुष्य क्या है। और यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि मनुष्य पहले 'है' तब बाद में वह करता है। और 'है' का महत्व इस तरह से अधिक हो जाता है क्योंकि वह मनुष्य की सत्ता है जिसके ही आधार पर उसके क्रिया कलापों की इमारत खडी होती है। आप एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिये जो दौड कर एक लक्ष्य पर पहुँच जाना

को पकड़ ले और इस तरह से पकड़े कि वह लट्टू नाचता ही रहे। इसी तरह का प्रयत्न आज कल के मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की ओर से होता है। मनुष्य का मस्तिष्क नृत्य करता हुआ लट्टू है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार उस लट्टू को हमारे सामने पकड़ कर उसके सम्पूर्ण घूर्णन और अति घूर्णन को दिखलाने की चेष्टा करता है। इस असम्भव से लगने वाले प्रयत्न में जिसको जितनी सफलता मिलती है वह उसी अनुपात में मनोवैज्ञानिक कथाकार होने का दावा कर सकता है। इसमें भी कितने स्तर होते हैं। मैंने अभी तक वैसे खिलाड़ी को तो नहीं देखा है जो लट्टू को पकड़ कर नाचते हुए ही दर्शकों को दिखला सके, पर ऐसे खिलाड़ियों को जरूर देखा है जो नाचते हुए लट्टू को डोरी के सहारे ऊपर को इस तरह उछाल दें कि वह आकाश में एक दम नाचता हुआ रह कर अपनी दिव्यता से दर्शकों के चित्त को आल्हाद से भर दे। ये सब बातें कला के कौशल से प्राप्त होती हैं और प्राप्त होती हैं अपनी प्रतिभा और मानसिक संस्कार के द्वारा। साईकिल आदमी को केवल दो चार मील पहुँचा देने के लिये ही बनी है, परन्तु ऐसे कुशल साईकिल चालक भी देखे गये हैं जो दो दो दिनों तक साईकिल को चलाते हुए उसी पर बिना उतरे हुए दैनिक जीवन की सारी क्रियाओं का सम्पादन करते हों अर्थात् स्नान खान पान इत्यादि भी करते हों। यह भी असम्भव सा प्रतीत होता है परन्तु मनुष्य की प्रतिभा ने कुछ ऐसे कौशल का आविष्कार कर लिया है कि असम्भव सी लगने वाली बात भी सम्भवता के समीप पहुँच गई है। मानव मस्तिष्क एक उबलता हुआ कड़ाह है। उसमें सारी चीजें अपने अनस्थिर रूप में वर्तमान रहती हैं। इस अनस्थिरता और चाञ्चल्य को स्थिर और दृढ़ रूप में दिखलाने का प्रयत्न मनोवैज्ञानिक उपन्यास करता है। नश्वर स्वर में अनश्वर गीत गाने का प्रयत्न करता है।

वास्तव में देखा जाय तो उपन्यास का काम यही है कि वह मनुष्य के वास्तविक सत्य स्वरूप का चित्रण हमारे सामने उपस्थित करे। आलोचना के क्षेत्र में हम यथार्थवाद, आदर्शवाद अथवा चरित्रात्मक जितने नाम सुनते हैं वे सब इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये आविष्कृत हुए हैं। सबों का उद्देश्य यही रहा है कि वे अपने ढंग से मानव के सच्चे स्वरूप को दिखलायें। यही उद्देश्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का भी है। जोला और ड्रेसर (Dreiser) ने भी मानव को प्रयोगशाला में रख कर वैज्ञानिक ढंग से उसके

की प्रक्रियाओं पर थोडा सा भी ध्यान दें तो पता चलेगा कि हमारे मानस की एक वह भी अवस्था होती है जिसमें विचार आते तो हैं, उमडते घुमडते भी रहते हैं, उनका प्रभाव हम पर पडता भी है, वे वेताव भी करते रहते हैं परन्तु वे क्या हैं, उनका सच्चा स्वरूप क्या है इसे कुछ चुने हुए शब्दों के माध्यम से कह देना कठिन होता है। उनका अस्तित्व है इसमें कोई सन्देह नहीं। यह निश्चित है, परन्तु जो निश्चित नहीं वह यह है कि उन्हें किन शब्दों में व्यक्त किया जाय। दूसरा स्तर वह है जिन्हें हम ठीक से सोच समझ कर उनके स्वरूप को पहचान कर हम उनका शब्दों के द्वारा वर्णन कर सकते हैं। दूसरों को हम वाचिक स्तर कहेंगे और पहले को पूर्ववाचिक स्तर।

पहले के जितने कथाकार थे वे अपना व्यापार इस स्थान से प्रारम्भ करते थे जहां हमारे मस्तिष्क की वाचिक अवस्था प्रारम्भ हो जाती थी। और हम उनका शाब्दिक विश्लेषण कर सकते थे। प्रेमचन्द हमें खूब बतला सकते हैं कि सुमन को अपने पतिगृह का परित्याग करते हुए कौन कौन सी मानसिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। परन्तु आज का मनोवैज्ञानिक कथाकार इसके भी पीछे जाकर उस सूत्र को हिलाना चाहेगा जिसका कोई वाचिक स्वरूप निर्णीत नहीं हो सका है। इसी वाचिक और अवाचिक मानसिक स्तर के अन्तर में मनोवैज्ञानिक और अमनोवैज्ञानिक कथा का अन्तर निहित है। परन्तु यह ख्याल रखना चाहिये कि जब हम एक कथाकार को मनोवैज्ञानिक कहते हैं और दूसरे को अमनोवैज्ञानिक तो हमारी दृष्टि सापेक्षिक ही होती है। प्रेमचन्दजी को खत्रीजी के सामने रख कर जितना हम मनोवैज्ञानिक कहेंगे उतना अज्ञेय और जैनेन्द्र तथा जेम्स ज्वाईस और विरजेनिया उल्फ तथा प्रुस्ट के सामने नहीं। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि चेतन के पूर्व वाचिक स्तर पर हमारी भावनायें अपने शुद्ध निरीह और आदिम रूप में रहती हैं। हमारी बुद्धि की कैंची की काट छांट से अछूती रहती हैं। बुद्धि उन्हें सुगठित नहीं कर पाती और तर्क उन्हें व्यवस्थित नहीं कर पाता। हमारी भावनायें वाचिक रूप उसी समय धारण करती हैं जब जब व्यवस्था, परिमार्जन और संगठन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। जिसे (Primary proccess) कहा गया है उसी के प्रभाव में हमारी भावनायें अपना व्यापार करती है। उससे आगे बढ़ कर (Secondary proccess) की सीमा में नहीं पहुँची रहती। अतः हम यही कह सकते हैं कि आज के युग में वे ही उपन्यास मनोवैज्ञानिक कहलाने का अधिकारी हो सकता है जिनमें भाव-

चाहता है। उसके दो रूप हैं एक मे वह दौडता हुआ दिखलाई पडता है और
वही रूप साधारणत लोगों को दिखलाई भी पडता है, परन्तु उसका एक
दूसरा रूप भी है जिसमे वह सोचता है, विचार करता है, उच्छ्वसित होता है
निश्चय करता है। यही रूप उसके सब रूपों की जननी है और इस रूप को
जो कथाकार दिखलाता है वही मनोवैज्ञानिक कथाकार कहा जायगा।

दूसरे शब्दों मे हम यही कह सकते हैं कि मनोवैज्ञानिक कथाकार
मनुष्य के बाहरी क्रियाकलापों को छोड़ कर उसकी चेतना को ही अपने
वर्णन का आधार बनाता है। परन्तु चेतना एक बहुत ही गोलमटोल सा शब्द
है और स्मृति, बुद्धि इत्यादि जैसे मानसिक प्रक्रियाओं के लिये प्राय इसका
प्रयोग किया जाता है। इस शब्द के प्रयोग मे जितनी अस्पष्टता और अन-
व्यवस्था है उतना शायद किसी भी दूसरे शब्द के सम्बन्ध मे नहीं होगी।
वास्तव मे चेतना का क्षेत्र बहुत व्यापक है इसके व्यापकत्व की सीमा में एक
छोर पर तो अचेतन या अर्धचेतन है जिसका हमें साधारण आभास भी नहीं
होता। और दूसरे छोर पर दिन रात काम मे आने वाली, पहचान मे आने
वाली व्यवहार के आधार रूप मे उपस्थित होने वाली विचारधारायें हैं जिन्हें
हम अच्छी तरह से जानते हैं। और जिनका हम विवरण दूसरों के सामने
अच्छी तरह से उपस्थित कर सकते हैं। पूर्व के उपन्यासकार अपनी
दृष्टि को बाहरी क्रियाकलापों तक ही सीमित रखते थे। जैसे, देवकी नन्दन
खत्री को ले सकते हैं। यदि वे बहुत आगे बढ़े तो चेतना के उसी क्षेत्र तक
जा सके जहा के प्रत्येक पहलू से मनुष्य परिचित होता है। उदाहरण के
लिये प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद को ले सकते हैं। थैकरे, डिकेन्स वगैरह भी
इसी श्रेणी में आयेंगे। परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यास हमारी चेतना के
उस स्तर पर अपना कारबार छानना पसन्द करेगा जहां की धारा एकदम
अस्पष्ट होती है, लचीली होती है, असंगठित होती है और जिन्हें शब्दों के
माध्यम से प्रगट करना कठिन होता है। यह हमें सदा याद रखना चाहिये
कि मनुष्य के चेतनामे अनेकस्तर होते हैं—एक छोर पर अज्ञात है और दूसरे
छोर पर ज्ञात की दृढ़ता है और इन दोनों के बीच में, कितने स्तर हो सकते
हैं जिनका ठीक ठीक भूगोल बनाना न तो सम्भव ही है और न आवश्यक ही।
पर दो स्तर तो स्पष्ट ही पहचान लिये जा सकते हैं, एक को हम वाचिक स्तर
कहेंगे और दूसरे को पूर्ववाचिक स्तर।

वाचिक स्तर से हमारा अभिप्राय क्या है? यदि हम अपने मानस

"इसी तरह वह अपनी दाहिनी तरफ की जेब में कुंजियां रखती है एक इस्पात की अंगूठी में उसकी चावियों का गुच्छा वंधा रहता है......... और वहां पर एक ऐसी चावी है जो अन्य चावियों से तिगुनी बड़ी है। और उसमें बड़े बड़े दांत भी हैं। यह ड्रावर के छोटी पेटी की चावी नहीं हो सकती.........अतः कोई दूसरा मजबूत वाक्स होना चाहिये.........उसे ही ठीक से पता लगाना चाहिये। मजबूत वाक्सों की चावियां ठीक इसी तरह की होती है.........परन्तु यह सब कितना निन्दनीय है।"

इस अंश पर विचार करने से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि यह पात्र की सीधी साधी उक्ति नहीं है। पात्र की उक्ति भले ही हो परन्तु लेखक की ओर से कही जा रही है अर्थात् पात्रों की चेतना और पाठक की चेतना के बीच में लेखक का व्यक्तित्व आ जाता है। दूसरी बात यह है कि इन पंक्तियों में आंतरिक भावना का चित्रण भले ही हो परन्तु इन भावनाओं ने वाचिक रूप धारण कर लिया है इनमें एक संगठन है, संगति है। भले ही ये बोले नहीं गये हैं, उच्चरित नहीं हुए हों। अर्थात् इन पंक्तियों में हम लेखक की रिपोर्ट तो पाते हैं परन्तु पात्र के मस्तिष्क में जो चेतना प्रवाहित हो रही है उससे हम सराबोर नहीं होते।

नाटक के पढ़ने वालों से यह बात छिपी नहीं होगी कि नाटकों में पात्रों की स्वगतोक्तियां कितने महत्व की होती हैं और पात्रों की मानसिक प्रक्रिया और उनकी प्रवृत्तियों को समझने में उनसे कितनी सहायता मिलती है, परन्तु फिर भी ये स्वगतोक्तियां मनुष्य के व्यक्तित्व की तह में वर्त्तमान पूर्व वाचिक धारा का प्रतिनिधित्व नहीं करती, उसकी विच्छिन्नता, बिखराहट अव्यवस्था का सही रूप उपस्थित नहीं करतीं। इनमें भी एक संगठन होता है संगति होती है, तर्क होता है और जिस वक्त उक्तियां लिखी जाती हैं उस वक्त नाटककार के सामने श्रोतागण उपस्थित रहते हैं। और नाटककार का ध्येय यह होता है कि श्रोताओं को कोई समझ में आने वाला तथ्य का ज्ञान उपलब्ध हो। इतना ही नहीं उसके सामने नाटक की कथा वस्तु भी उपस्थित रहती है और वह चाहता है कि उस कथावस्तु के विकास में भी इन स्वगतक्तियों से सहायता मिले। कहने का अर्थ यह कि नाटककार पर कितने बन्धन रहते हैं और वे बन्धन मानों चेतना की मौलिक अव्यवस्था, उच्छिन्नता तथा क्रमहीनता, मण्डूकप्लुति के चित्रण में बाधक होते हैं। कल्पना कीजिए कि हम एकान्त

नाओं के पूरे वाचिक स्तर को अपनी वर्ण्य वस्तु का उपजीव्य बनाने की चेष्टा की गई हो।

यहां हम अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करने के लिये अंग्रेजी साहित्य के तीन प्रमुख उपन्यासकारों को लेंगे। इसका कारण यह है कि अंग्रेजी साहित्य में ही मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की प्रवृत्तियों का ठीक तरह से अध्ययन हो सकता है। इन उपन्यासकारों का नाम ये हैं— Richradon James Joyce और विजिनिया उल्फ। इनके उपन्यासों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी प्रथम पंक्तियों के साथ पाठक पात्र चेतना के मध्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। अन्य उपन्यासों की तरह ऐसा नहीं लगता कि पाठक नदी के तट पर खड़ा हो। हां, नदी की धारा से होकर आने वाली वायु की शीतलता उसको कभी कभी स्पर्श कर लेती हो अथवा पानी की छींटें भी उन्हें कभी कभी अभिसिंचित कर जाती हों। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता था कि पाठक पात्रों की चेतना धारा के सीधे सम्पर्क में आकर उसी पर प्रवाहित हो रहा है। पूर्व के उपन्यासकारों में Henary James और दास्तावेस्की का नाम मनोवैज्ञानिक कथाकारों में लिया जाता है। और यह बात सही भी है कि उन्होंने मनुष्य की आन्तरिक चेतना को चित्रित करने में अपूर्व सफलता पाई है। फिर भी मानस के उस स्तर का चित्रण, जिसको उन्होंने अपने वर्णन का आधार बनाया है उसमें और ज्वायस इत्यादि आधुनिक मनोवैज्ञानिक कथाकारों के आधारभूत मानसिक स्तर में अन्तर है और यह अन्तर वाचिक और पूर्ववाचिक स्तर के रूप में ही समझा जा सकता है एक उदाहरण लें—दासतावेशकी ने अपनी पुस्तक "Crime and Punishment" में एक पात्र से कहलाया है "It must be the top drawer", he [Raskolnikov] reflected "So she carries the keys in a pocket on the sight All in one bunch on a steel ring . .. .. And there's one key there, three times as big as all the others, with deep notches, that can't be the key of the chest or drawers . then there must be some other chest or strong box . that's worth knowing Strong boxes always have keys like that . but how degrading it all is" "उसने मन मे विचार किया" यह अवश्य ही सबसे ऊपर वाला ड्राजर मे होगा।

को उपस्थित नरना है इसका भी उसे ज्ञान नहीं। उर्दू के एक शायर ने लिखा है कि

दरिया को अपनी मौज और तुग़ानियों से काम
किस्ती किसी की डूबे या दरमियां रहे।

यही कुछ अवस्था मनोवैज्ञानिक कथाकार की होती है।

ऊपर जिन बातों का उल्लेख किया गया है उनसे स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास जिस रूप में हमारे सामने उपस्थित होगा वह रूप साधारण कथाओं के रूपसे भिन्न होगा। और वह अपने पाठकों से यदि वह पाठक साधारण पाठक हुआ जैसे पाठक प्रायः हुआ करते हैं—पाठकों से एक भिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया की आशा करेगा। वह चाहेगा कि पाठक अपने को थोड़ा बदले, अपनी पुरानी आदतों को छोड़े। इसी को हम अंग्रेजी के शब्दों में यह कह सकते हैं। Psychological noves are notto be read but to be re-read मनोवैज्ञानिक उपन्यास का पाठक मात्र पाठक ही नहीं रह जाता, वह कुछ अंश में स्रष्टा भी बन जाता है। उपन्यास अपने अंतिम रूप में जिस साज सज्जा में उपस्थित होता है उसके निर्माण में पाठक का भी बहुत हाथ रहता है। मानस की चेतना को ठीक ठीक शुद्ध और प्राकृतिक रूप में उपस्थित करने के सिद्धान्त की स्वीकृति के साथ ही उपन्यास कला के लिए कुछ समस्यायें उपस्थित होतीं हैं। प्रथमतः तो यह कि उपन्यास से लेखक की उपस्थिति एक दम हटा ली जाय क्यों कि ज्योंही यह भावना पाठक के हृदय में उत्पन्न हुई कि उसके और उपन्यास में वर्णित चेतनाप्रवाह के बीच कथाकार आ जाता है अर्थात् चेतना का वास्तविक स्वरूप प्राप्त नहीं हो रहा है, जो कुछ प्राप्त हो रहा है वह कथाकार के द्वारा तैयार किया हुआ कृत्रिम (Cooked) रूप है त्यों ही उपन्यास के प्रति उसके हृदय में आस्था नहीं रह जाती। इसीलिये मनोवैज्ञानिक उपन्यास में उपन्यासकार को अपना अस्तित्व जहां तक हो सके हटा लेना पड़ता है। प्रेमचन्द या अन्य उपन्यासकारों की विवेचना करते समय एक स्थान पर मैंने कहा है कि इन उपन्यासों में आसन्नलेखकत्व है। अथात लेखक उपन्यास के पीछे पीछे लगा हुआ उसको अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तित करता चलता है। और नहीं तो वह उपन्यास को किस तरह से पढ़ा जाय पात्रों और घटनाओं के सम्बन्ध में किस तरह की धारणा बनाई जाय इसके सम्बन्ध में अपनी राय देता चलता है अर्थात् पाठक और लेखक के बीच में वही सम्बन्ध है जो किसी अजायबघर के दर्शक और गाईड में होता है। वहां की वस्तुओं को वैसा ही समझना पड़ता है जो रूप गाईड के द्वारा प्रस्तुत

मे चुप चाप बैठे हुए हैं। हम पर किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं है और हम अपने शुद्ध मौलिक रूप मे उपस्थित होने के लिए तथा अपने भावों को अभिव्यक्त करनेके लिए स्वतन्त्र हैं। हमारी बातोंको सुनने वाला कोई नहीं है। हम जो मनमें आये कहने के लिए स्वतन्त्र हैं जिस रूप मे विचार हमारे सामने उपस्थित हों उसी रूप मे ठीक ठीक उपस्थित कर देने की परिस्थिति मे हैं। उस समय हमारे भावों का जो पूर्व वाचिक रूप होगा उसी रूप को उपस्थित करना आधुनिक मनोवैज्ञानिक कथाकारों का कर्तव्य है। फ्रायड ने अपने रोगियों के अचेतन मानसिक स्तर मे दुबकी रहने वाली भावनाओं को, उन भावनाओं को जो प्रत्यक्ष दीख तो नहीं पडती हैं परन्तु वे ही मनुष्य के सारी क्रियाओं को प्रेरित कर रही हैं—को पहचानने के लिए जो मुक्त साहचर्य (Free Association) नामक पद्धति निकाली थी। उसी का साहित्यिक प्रतिरूप उपस्थित करने का बीडा उठाकर आधुनिक कथाकार चलता है। वह अपनी रचना मे अपने को एकदम हटा लेता है। पाठक को भी नहीं रहने देता। वहा अगर कोई चीज रह जाती है तो केवल मनुष्य की आन्तरिक असगठित और अव्यवस्थित भावनाएं ही। यह मान लेना पडता है कि कथा का पात्र किसी दूसरे को सुनाने के लिए अपनी बातें नहीं कहता, वह केवल अपने से बातें करता है उसका सुनने वाला अगर कोई हो तो वह साधारण श्रोता नहीं होगा वह एक विशिष्ट श्रोता होगा। जिसको अग्रेजी में (Abstracted Reader) कह सकते हैं। उसकी एक अपनी दुनिया होती है और वह दुनिया बहुत कुछ पात्र की असगठित और अव्यवस्थित तथा अविच्छिन्न मानस से मिलती जुलती होती है। नाटक मे पात्र भी स्वगतोक्तियों के द्वारा अपनी निजी मानस की तरलता को दिखलाने का प्रयत्न करते हैं परन्तु उनके पास एक पैमाना होता है। उनके सामने कुछ पाटर्न और डाईरेक्सन्स होते हैं। कह लीजिये कि उनको भी एक खास ढग से प्रतिक्रिया करनी पडती है परिणाम यह होता है कि नाटक की स्वगतोक्तियों को भी श्रोता की आशाओं की रक्षा करनी पड़ती है। उन्हें किसी नपी तुली व्याकरणसम्मत रूढिबद्ध तथा बोधगम्य भाषा में बोलना पडता है। हा, इनके द्वारा इतनी बात अवश्य होती है कि मानस की तरलता, थिरकराहट, का थोडा आभास जरूर मिल जाता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक कथा के पात्र की स्वगतोक्ति श्रोता की परवाह नहीं करती। उसे इस बात की परवाह नहीं कि पाठक हमारी बात को समझता है या नहीं उसे तो अपने मानस का शुद्ध रूप ही उपस्थित करना है। मानस के शुद्ध रूप

को उपस्थित नरना है इसका भी उसे ज्ञान नहीं। उर्दू के एक शायर ने लिखा है कि

दरिया को अपनी मौज और तुग्रॉनियों से काम
किश्ती किसी की डूबे या दरमियां रहे।

यही कुछ अवस्था मनोवैज्ञानिक कथाकार की होती है।

ऊपर जिन बातों का उल्लेख किया गया है उनसे स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास जिस रूप में हमारे सामने उपस्थित होगा वह रूप साधारण कथाओं के रूपसे भिन्न होगा। और वह अपने पाठकों से यदि वह पाठक साधारण पाठक हुआ जैसे पाठक प्रायः हुआ करते हैं–पाठकों से एक भिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया की आशा करेगा। वह चाहेगा कि पाठक अपने को थोड़ा बदले, अपनी पुरानी आदतों को छोड़े। इसी को हम अंग्रेजी के शब्दों में यह कह सकते हैं। Psychological noves are notto be read but to be re-read मनोवैज्ञानिक उपन्यास का पाठक मात्र पाठक ही नहीं रह जाता, वह कुछ अंश में स्रष्टा भी बन जाता है। उपन्यास अपने अंतिम रूप में जिस साज सज्जा में उपस्थित होता है उसके निर्माण में पाठक का भी बहुत हाथ रहता है। मानस की चेतना को ठीक ठीक शुद्ध और प्राकृतिक रूप में उपस्थित करने के सिद्धान्त की स्वीकृति के साथ ही उपन्यास कला के लिए कुछ समस्यायें उपस्थित होती हैं। प्रथमतः तो यह कि उपन्यास से लेखक की उपस्थिति एक दम हटा ली जाय क्यों कि ज्योंही यह भावना पाठक के हृदय में उत्पन्न हुई कि उसके और उपन्यास में वर्णित चेतनाप्रवाह के बीच कथाकार आ जाता है अर्थात् चेतना का वास्तविक स्वरूप प्राप्त नहीं हो रहा है, जो कुछ प्राप्त हो रहा है वह कथाकार के द्वारा तैयार किया हुआ कृत्रिम (Cooked) रूप है त्यों ही उपन्यास के प्रति उसके हृदय में आस्था नहीं रह जाती। इसीलिये मनोवैज्ञानिक उपन्यास में उपन्यासकार को अपना अस्तित्व जहां तक हो सके हटा लेना पड़ता है। प्रेमचन्द या अन्य उपन्यासकारों की विवेचना करते समय एक स्थान पर मैंने कहा है कि इन उपन्यासों में आसन्नलेखकत्व है। अथात लेखक उपन्यास के पीछे पीछे लगा हुआ उसको अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तित करता चलता है। और नहीं तो वह उपन्यास को किस तरह से पढ़ा जाय पात्रों और घटनाओं के सम्बन्ध में किस तरह की धारणा बनाई जाय इसके सम्बन्ध में अपनी राय देता चलता है अर्थात् पाठक और लेखक के बीच में वही सम्बन्ध है जो किसी अजायबघर के दर्शक और गाईड में होता है। वहां की वस्तुओं को वैसा ही समझना पड़ता है जो रूप गाईड के द्वारा प्रस्तुत

किया जाता है। परन्तु अब इतिहास कला के विकास के इतिहास के देखने से यही पता चलता है कि उपन्यास का इतिहास लेखक से मुक्त होने का इतिहास है। ज्यों ज्यों उपन्यास में मनोविज्ञान का महत्व बढ़ता गया है और उसे कौतूहल निवृत्ति से हटाकर अधिक सूक्ष्म और मनुष्य की आन्तरिकता को उपस्थित करने वाली चीज समझा जाने लगा है त्यों त्यों इस आसन्न लेखकत्व से उसका पिंड छुटता गया है इस बात को सब उपन्यासकारों ने स्वीकार किया है। Flaubert आन्तरिक जगत का चित्रण करने वाला उपन्यासकार नहीं था लेकिन उसने भी यह बात महसूस किया था कि "The artist ought to be in his work like God in creation in visible and all powerful, let him be felt everywhere but not seen," अर्थात् कलाकार को अपनी कला वस्तु में उसी तरह छिपा रहना चाहिये जिस तरह ईश्वर सारी सृष्टि का स्रष्टा होते हुए भी उसके पीछे छिपा रहता है। यहां तक कि उसके अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं होता। अत लेखक को रंगमंच से हट जाना मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की प्रथम शर्त है।

दूसरी समस्या जो सामने आती है वह दो मस्तिष्कों का सम्मेलन। या कह लीजिये दो मानसिक वातावरण का पारस्परिक आदान प्रदान। यह भूलना नहीं चाहिये कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास में व्यक्ति नहीं रहता, परन्तु विशुद्ध मानसिक वातावरण ही रहता है। वह भी अपने विशुद्ध, प्राकृत और अपरिमार्जित रूप में और इसी मानसिक वातावरण का सम्मेलन पाठक के मानसिक वातावरण से होता है। पुराने उपन्यास के पाठकों के सामने इस स्वत सम्मेलन का प्रश्न नहीं होता था। कथाकार अपनी ओर से एक कथा कहता चलता था अथवा पाठक के गले के नीचे उतारता चलता था। और पाठक भी ज्यों त्यों लेखक की गवाही पर उसे ग्रहण करता चलता था। परन्तु आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कथा तो रहती नहीं। कम से कम उस दृढ रूप में जिस दृढ रूप में वह पुराने उपन्यासों में वर्त्तमान रहती थी। अब तो उपन्यासों में केवल मानसिक वातावरण भी रहता है जो किसी पात्र के आधार पर अपना रूप प्रकट करता है। पुराने उपन्यासों में भी पाठक उपन्यास के किसी पात्र के साथ अपना तादात्मय कर लेता था और उसी के द्वारा वह अपने उपन्यास से सम्बद्ध हो जाता था। राम और रावण को लेकर लिखे गये उपन्यास में वह राम का साथ देगा। रावण का नहीं। परन्तु

आज के उपन्यास में राम रावण का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये पाठक को पात्र के साथ तादात्मय तो करना ही पड़ता है। परन्तु इस तादात्मय का रूप दूसरा होता है। यह तादात्मय चेतना के उस स्तर पर होता था। वह बुद्धि के स्तर पर होता था—उस स्तर पर जो मस्तिष्क का सबसे बाहरी स्तर होता है, परन्तु भावनायें अधिक गहराई में उत्पन्न होती हैं। अतः इस स्तर पर जो तादात्मय होगा उस तादात्मय में अधिक गहराई होगी। फलतः उसका रसास्वादन भी दूसरी तरह का होगा। यदि कथाकार अपने पाठक और पात्र में यह भावात्मक तादात्मय करा सका तो यह सम्भव हो सकेगा कि वह पाठक उसी संवेदना से प्रभावित हो जो संवेदना रेखा या भुवन को प्रभावित कर रही थी। भुवन की कुहनी में जो चुनचुनाहट हो रही थी, वह उसकी अपनी ही चुनचुनाहट जान पड़े, वह उन्हीं ध्वनियों को सुन सके जिसे जेम्स ज्वायस के डबलिन में Leopold bloom सुन रहा था, अथवा विरजिनिया वुल्फ की मिसेज डॅलोवे जिस बिगवेन घड़ी की ध्वनि सुन रही थी वही उसको सुनाई पड़े। अमेरिका के प्रसिद्ध उपन्यासकार फाकनर ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास Sound and Fury में एक अर्द्ध विकसित, नीम-पागल Benjy नामक व्यक्ति के दृष्टिकोण को उपस्थित किया है। यह व्यक्ति है तो ३० वर्ष का परन्तु उसके मानस का विकास ३ वर्ष के व्यक्ति के जितना भर ही है। एक प्रौढ़ पाठक को Benjy जैसे व्यक्ति के मानसिक स्तर पर आना कठिन है। परन्तु तो भी उसकी भावनाओं, उसके प्रवाह, उसकी मानसिक गति के लय तथा स्वच्छन्दता के साथ पूरी सहानुभूति के भाव पाठक उत्पन्न होते हैं और यही मुख्य बात भी है। क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऊपरी मानसिक स्तर के तादात्मय का कोई महत्व नहीं होता। भावों का, भावनाओं का तादात्म्य ही अधिक महत्वपूर्ण है जो हो ही जाता है। इस उपन्यास के पाठक के मानस को दो स्तरों पर सक्रिय होना पड़ता है। प्रथमतः Benjy के बाल्योचित मानसिक स्तर की तरलता, स्वच्छन्दता, सर्वसमर्थता का परिचय प्राप्त होता है—वह इसके सीधे सम्पर्क में आता है। द्वितीयतः उसके अपने बौद्धिक स्तर को भी सक्रिय होना पड़ता है ताकि वह Benjy के अर्द्ध विकसित मानस के तरल प्रवाह को कोई सार्थक रूप दे सके, उसमें से कोई अर्थवत्ता का सूत्र ढूंढ सके। अतः इस उपन्यास का निर्माण दो कहानियों के द्वारा हो रहा है। पहली कहानी वह है जो Benjy के अर्द्ध विकसित मानस की स्वच्छन्दता के द्वारा कही जा रही है, और दूसरी कहानी वह है जो इन उलझे सूत्रों के

आधार पर पाठक का विकसित मानस अनुमान-पद्धति के सहारे निकालता चलता है। इसी अर्थ मे कहा गया है मनोवैज्ञानिक उपन्यास का पाठक पाठक पाठक मात्र ही नहीं रहता वह एक तरह का स्रष्टा भी होता है। उपन्यास के निर्माण मे उसका भी अनुदान कम नहीं होता।"

मनोवैज्ञानिक उपन्यास के सम्पर्क में आते ही पाठक के हृदय में ऐसी भावना होने लगती है कि उसे किसी घटना, कहानी, या पात्र का परिचय नहीं प्राप्त हो रहा है बल्कि उसका सीधा सम्बन्ध पात्रों के मानसिक तरल धारा के साथ हो रहा है। वह सीधे एकाएक मानसिक लहरों पर प्रवाहित होने लगता है। उसके पुस्तक समाप्त करने पर उसके हृदय मे यह संस्कार उपस्थित होता है कि वह एक अथवा अनेक पात्रों के आन्तरिक जगत के संगीत का रसास्वादन कर सका है और इस रसास्वादन की अपील उसके बाहरी कानों की ओर न होकर आन्तरिक कानों की ओर हुआ है। प्राय मनुष्य अपने दैनिक जीवन में अपनी ही चेतना से आबद्ध रहता है। उसको इतनी फुरसत नहीं रहती कि वह अपनी चेतना की सीमा से बाहर आकर दूसरे की चेतना की भी झाकी ले सके। बाहरी दुनिया की ओर देख लेना तो फिर भी सम्भव है उसे देखने के लिये किसी विशेष जागरूकता की आवश्यकता नहीं होती, बाहरी दुनिया के व्यापार की उपमा बिजली की गडगड़ाहट अथवा कडक से दी जा सकती है जिसको हमे इच्छा न रहते हुए भी सुनना ही पडता है, वज्र बधिर व्यक्ति को भी बिजली की गडगडाहट सुनाई पड ही जाती है। पर आन्तरिक जगत संगीत की ध्वनि है जिसके सुनने के लिए अधिक जागरूकता और मानसिक संस्कार की आवश्यकता पड़ती है। असंस्कृत मानस अथवा अशिक्षित कानों को संगीत की ध्वनि नहीं भी सुनाई पड सकती है हमारे मनोवैज्ञानिक कथाकार पात्रों के आन्तरिक अनुभूतियों के साक्षात और सीधे सम्पर्क मे लाने की प्रतिज्ञा लेकर चलते हैं और इस तरह से उन्होंने कथा साहित्य को एक नया आयाम प्रदान किया है। यों तो प्रत्येक साहित्यिक रचना का उद्देश्य पाठक मे व्यापकत्व की अनुभूति जागृत करना है उसके अनुभव को समृद्ध करना है। पुराने उपन्यास अपना कार्य नहीं करते थे सो बात नहीं परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यास जिस ढग से हमारी अनुभूतियों को समृद्ध करते हैं, उसमें व्यापकत्व लाते हैं अथवा जिस दिशा की ओर वे हमारी अनुभूतियों को मोड़ते हैं उसमें एक विचित्रता है, एक नूतनता है और एक स्फूर्ति है। पुराने उपन्यासों में पाठक लेखक से यही कहता

था, "मुझे एक कहानी चाहिये जो मुझे अपने में तल्लीन कर ले, दुनिया से काटकर अपने में चिपका ले। यहां तक कि हमें भूख और प्यास भी पास न फटकने दे।" परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यास में पहल लेखक की ओर से होती है। लेखक पाठक से कहता है, "देखो! मैंने यहां पर विचारों के प्रवहमान रूप का, चेतना के प्रकृत और शुद्ध रूप का कलात्मक चित्रण उपस्थित किया है। इसे ध्यानपूर्वक पढ़ो, तुम्हें इसमें एक विचित्र लोक का दर्शन होगा। जहां तक कथा का सम्बन्ध है, वह मेरे द्वारा नहीं तुम्हारे द्वारा गढ़ी जायेगी। मैंने तुम्हारे पास सामग्री रख दी है अपने शुद्ध रूप में। अब तुम्हारा काम है कि कौड़ी कौड़ी माया बटोरो अथवा एक एक कंकड़ी चुन कर अपना महल खड़ा करो।" कहने का अर्थ है कि पूर्व के उपन्यास में देखने से तो यही मालूम पड़ता है कि वहां पर लेखक ही सर्वेसर्वा है और यह कहा भी जाता है कि लेखक अपने उपन्यास को जिस तरह से चाहे तोड़ता मरोड़ता है परन्तु दूसरी दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होगा कि लेखक के इस अभिमानपूर्ण दावे के अन्दर कितना खोखलापन है। वह ऊपर से समझता तो था और इससे उसके अहम् को थोड़ी तृप्ति भी हो जाती थी। परन्तु वास्तव में उसका ध्यान पाठक की ओर लगा रहता था और वह ध्यान रखता था कि ऐसी कोई बात न कही जाय जो पाठक को पसन्द न हो अर्थात् पाठक ही प्रमुख था और लेखक एक तरह से उसकी मिजाजपुर्सी का यन्त्र मात्र। परन्तु अब परिस्थिति बदल गई है। अब Initiative लेखक के हाथमें आगया है। वह पाठक के मनोरंजन की परवाह नहीं करेगा। वह ऐसा वैद्य नहीं बनेगा जो "जो रोगी को भावे सो वैद्य फ़ुरमावे।" नहीं वह स्वयं अपनी सामग्री पर विचार करेगा। विचार करेगा कि दी हुई सामग्री कहां तक लाभकारी है और उसके गुणों को ध्यान में रख कर ही पाठक रूपी रोगी को देने की चेष्टा करेगा। वह पाठक की आन्तरिक शक्ति को कुन्द नहीं करेगा बल्कि उसे जागृत करना ही उसका उद्देश्य होगा।

ऊपर हमने चर्चा की है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास मात्र पढ़ने के लिए नहीं परन्तु पुर्नपाठन के लिये है तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यास का पाठक मात्र पाठक ही नहीं—ऐसा पाठक जिसके रिक्त मस्तिष्क में लेखक की ओर से बातें ढाली जा रही हों—परन्तु वह स्वयं उपन्यासकार होता है और कथा के निर्माण में सक्रिय योग देने वाला। वह कवि ही क्या जिसने पाठक को भी कवि नहीं बनाया और वह कथाकार ही क्या जिसने अपने पाठक को भी कथाकार नहीं

बना दिया। मनोवैज्ञानिक कथा के प्रत्येक पाठक को इस तरह की अनुभूति होती है। इस सम्बन्ध में अंग्रेजी के एक आलोचक ने अपनी अनुभूतियों का वर्णन किया है जिसका परिचय बहुत कुछ उन्हीं के सहारे मैं पाठकों के लाभार्थ यहा पर दे रहा हूँ।

Dorothy Richardson का एक उपन्यास है Pilgrimage यह उपन्यास १२ जिल्दों में समाप्त होता है। इसकी पहली जिल्द Pointed roof में Mariam Henderson नामक महिला एक जर्मन बोर्डिङ्ग स्कूल में अंग्रेजी भाषा की शिक्षा देने के लिये जाती है। इसी के भावनात्मक साहसिकता की कथा इसमें दी गई है। आज से दो शतक पहले जब Leon Edel महोदय इस पुस्तक को पढ़ने बैठे तो निराशा ही हाथ लगी। विशेषत इस महिला के मानसिक जाड्य और भाव ने तो एक पद भी उन्हें बढ़ने नहीं दिया। दो शतकों के बाद पुन वे इस पुस्तक को पढ़ने बैठे तो भी परिस्थिति में सुधार होता नजर नहीं आया। मुख्य कठिनाई यह है कि पाठक यह धारणा बाध कर चलता है कि मेरियम गम्भीर, बुजुर्ग तथा भारी भरकम, कोई दृढ विचार सम्पन्न महिला सी लगती है। पर जब हम उसमें मानसिक चाचल्य देखते हैं, जब हम देखते हैं कि उसके चित्त का ठिकाना नहीं, कभी भी किसी तरह का मूड धारण कर सकती है तो पाठक को ये असगतिया विचित्र मालूम पड़ती हैं। परन्तु पुस्तक के सौ पृष्ठों के बाद एक वाक्य मिलता है "She could do nothing even with these girls, and she was nearly eighteen" अर्थात् वह इन बालिकाओं के साथ कुछ भी नहीं कर सकती थी, और वह इस समय फक्त १८ वर्ष की ही थी। आलोचक का कहना है कि इस पक्ति के पढ़ते ही उसकी सारी मानसिक परिस्थिति बदल गई और उसको एक ऐसा दृढ आधार मिल गया कि वह उपन्यास में वर्णित बातों को एक सगत रूप में देख सके। अभी तक वह उपन्यास को एक unfocussed vision से देख रहा था, उसे देखने के लिये केन्द्र बिन्दु नहीं मिल रहा था। अत चित्र स्पष्ट रूप से उसके सामने नहीं आता था। अब फोकस के लिये एक आधार मिल जाने पर चित्र स्पष्ट होकर सामने आने लगा। लेकिन अभी तक भी पूरी स्पष्टता नहीं आई थी। पाठक के रूप में अपनी अनुभूतियों को टटोलते हुए वह पाठक उस दृश्य को पहचान सका जहा पर आते ही मृत कागज और उसके काले अक्षरों ने मानों किसी मन्त्र से जीवित रूप धारण कर लिया। और अब तक जिस चीज को वह केवल बुद्धि के सहारे पकड़ने

का प्रयत्न कर रहा था वह उसके भावात्मक जीवन का अंग बन गई। वह दृश्य यह है। मैरियम अपने बालोचित स्फूर्ति और उल्लास के साथ संगीत गाती हुई अपनी धुन में मस्त स्कूल में प्रवेश करती है। तब तक सामने धीर गम्भीर और बुजुर्ग Pastor Lahman सामने आ जाते हैं "तुम तो बहुत प्रसन्न दिखलाई पड़ती हो। क्यों क्या बात है ? मैरियम असमंजस में पड़ जाती है और कहती है "नहीं तो" Pastor Lahman और भी बहुतसी बातें करता है, कहता है कि मुझे अंग्रेजी का एक पद्य बहुत प्रिय है—

"A little Land, well-tilled.
A little wife, well willed.
And great riches."

मैरियम का हृदय सुखद स्वप्नों से भर जाता है, परन्तु फिर भी वह वहां से हटना ही पसन्द करती है। परन्तु तब तक Pastor अपने वार्तालाप का विषय बदल देता है।

"तुम चश्मा क्यों लगाती हो भला ?" उसकी वाणी सहानुभूति पूर्ण सद्-भावनाओं से ओतप्रोत थी,

"मुझे आंखों का कष्ट है जिसे Mypoic astigmatism कहते हैं"

मेरी प्यारी मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम्हें चश्मे की कोई खास आवश्यकता नहीं......क्या मैं इन्हें देख सकता हूँ......मैं आंखों के बारे में कुछ जानता हूँ।" मैरियम ने अपने चश्मे को निकाल कर दे दिया और देते समय उसके हाथों के प्रकम्पन में एक संगीत था। वह उत्सुकता के साथ देखने लगी। चश्मे को उतारने के साथ ही उसके देखने की आधी शक्ति कम हो गई थी और उसे एक धुंधली आकृति दिखलाई पड़ रही थी जो शायद उसको सहायता देने के लिये अग्रसर थी ।

'तुम सदा इसे पहनती हो ? कितने दिनों से ?"

'प्यारी लड़की स्कूल के दिनों में तुम्हें सदा इन्हीं लंगड़ी आंखों से काम लेना पड़ा होगा"............

"जरा अपनी आंखें देखने दो। थोड़ा सा प्रकाश की ओर मुड़ो।" समीप खड़ा होकर वह उसकी अस्पष्ट दृष्टि को देखने लगा।

'और ये आंखें प्रकाश को सह नहीं सकती।"

प्यारी लडकी, तुम लडकपन मे बहुत सुन्दर थीं आज से भी अधिक तब तक raullin Pfaff's की आवाज मोटे दरवाजे की ओर से आई। Pastor पीछे हट गये।

अब सारी पुस्तक उनके सामने जीवित रूप में उपस्थित हो गई। इसका कारण यह नहीं कि एक नाटकीय दृश्य उपस्थित हो गया था और एक किशोरी और एक बुजुर्ग पादरी के बीच वार्तालाप का प्रसंग आ गया था। परन्तु इसलिए कि हो न हो किसी ऐन्द्रजालिक प्रक्रिया के द्वारा एक भावना किताबों के पृष्ठों से छन कर सामने आ गई थी और पाठक के हृदय में भी स्थान बना चुकी थी। पाठक का कहना है कि अब वह मैरियम को, उसके स्कूल की कक्षा को अच्छी तरह देख सकता था। वह उसके दृष्टि दोष के लिए तथा आदमियों के साथ मिलने में झिझक को अच्छी तरह समझ सकता था? अब पुस्तक उसके लिये अनाकर्षक नहीं रह गई।

यह परिवर्तन किस तरह से सम्भव हुआ? क्या कारण है कि यह पुस्तक जो पहले नीरस मालूम पडती थी अब आकर्षक मालूम पडने लगी। इसे लेखक के शब्दों में सुनिये—What had happened? It was important to understand And as I searched the memory of my own reading it seemed to me that I had some how begun by struggling against Darothy Richardson she had wanted one to enter into the mind of a young adolescent–a female adolescent–and I had not been able to do this I could not adopt the one "point of view" she offered me, an angle of vision that required more identification than I–as indeed many of her male readers–could achieve The episode with Paster Lahman, however, had offered me the key And as I studied it closely I saw that what had happened here was that through Miriam Henderson's angle of vision of the postor I had finally entered the book. She had made me aware of him, and it was with him I could identify myself so that while we see him only as Miriam see him, it became suddenly possible for me, the male reader, to feel myself standing in front of this blonde English girl and inquiring into her near-sightedness

The alchemy of this was that—as Proust observed, "since it is in ourselves that they are happening—"

इस उदाहरण का सारतत्व यही है कि एक बार जहां मैरियम हंडरसन के दृष्टिकोण तथा उसकी सम्वेदनाओं के साथ हमारे अन्दर सहानुभूति उत्पन्न हुई कि सारी परिस्थिति में परिवर्तन हो गया। ऐसा हो गया कि सारी बातें हमारे अन्दर ही घट रही हों और सारा वातावरण हमारे सामने सजीव हो उठा। आगे चल करके इस आलोचक ने इस उपन्यास के सम्बन्ध में निजी अनुभूतियों की जांच करने के लिये उसने और लोगों की अनुभूतियों के जानने की चेष्टा की जिनमें पुरुष और स्त्री दोनों थे। और उसने यही निष्कर्ष निकाला कि इस तरह के उपन्यासों में लेखक को तभी सफलता मिल सकती है जब वह पाठक को पुस्तक में वर्णित चेतना के साथ सम्पूर्ण रूपेण तादात्म्य करा सके। और यह तभी सम्भव हो जब कि उपन्यास के कुछ आधार-भूत कथा-स्थलों का पता चल जाय जिन पर पैर रख कर इधर उधर दृष्टि डाली जा सके। मनुष्य में अनुसंधान करने की, कुछ खोज निकालने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति के संतोष से उपन्यास-जन्य आनन्द में एक विशेष समृद्धि का पुट आ जाता है। पाठकों में ऐसी दो कवियित्रियां भी मिलीं जो इस उपन्यास को प्रथम बार में ही वास्तविक अर्थ में पढ़ सकीं। इन्हें पुनः पढ़ना नहीं पड़ा जैसा कि अन्य पाठकों के साथ हुआ था। इसका कारण यही है कि कवि की प्रतिभा में ऐसी क्षमता होती है कि वह अंश में भी पूर्ण का प्रतिबिंब देख सकती है, उसके लिये समग्रता को दिखलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह प्रत्येक वस्तु को समग्रता में ही देख लेता है। उसके लिये किसी वस्तु के आधार की आवश्यकता नहीं होती, जो कुछ मिलता है वही उसके लिये आधार बन जाता है।

ऊपर कहा गया है कि मनोवैज्ञानिक कथाकार का उद्देश्य चेतना के शुद्ध मौलिक तथा अनगढ़ स्वरूप को उपस्थित करना होता है। परन्तु एक दिन, एक घंटा क्या एक मिनट के अन्दर जो चेतना-प्रवाह बह जाता है उसे भी सम्पूर्ण रूप में दिखलाना सम्भव नहीं। साहित्यिक अभिव्यक्ति का प्रश्न आते ही काट छांट, निर्वाचन-निष्कासन का कार्य प्रारम्भ हो जाता है क्यों कि अभिव्यक्ति सदा सक्रिय होती है। जेम्स ज्वायसने, कहा जाता है कि पात्र के चौबीस घंटे के जीवन के चेतना-प्रवाह को चित्रित किया है, विचारों

और संवेदनाओं की अवर्गीकृत आद्यता (Unassorted abundance) को उपस्थित कर दिया है, कागज पर कलेजा (यहाँ मानस प्रवाह) को निकाल कर रख दिया है। पर ध्यान से देखने से पता चलेगा कि युलिसिस की रचना में पर्याप्त सतर्कता, संगठन एवं निर्वाचन से काम लिया गया है। बात इतनी सी है कि यहाँ पर सारी प्रक्रिया का उद्देश्य यह है कि पाठक के हृदय में यह आभासित हो कि यहाँ निर्वाचन से काम नहीं लिया गया है, सब चीजें ज्यू की त्यूं उठाकर रख दी गई हैं। पूर्व के उपन्यासों का उद्देश्य वर्ण्य विषय के प्रति पाठकों के हृदय में Willing suspension of disbelief की स्थिति उत्पन्न कर देना था, ऐसी व्यवस्था कर देना था कि पाठक के हृदय में अविश्वास के प्रस्ताव न उठ सकें। आज का मनोवैज्ञानिक कथाकार भी यही कर रहा है। इतना ही अन्तर है कि प्रथम का ध्येय स्थूल या बाहरी जगत के प्रति अविश्वास नहीं उठने देने का था, आज के कथाकार का उद्देश्य चेतना प्रवाह के प्रति नहीं उठने देने का है।

कथा के मौलिक सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं। जब मैं विद्यार्थी था तो प्रश्नपत्र में किसी अंग्रेजी का उद्धरण देकर कहा जाता था कि Write in your one words अर्थात् इसे पुनः अपने शब्दों में लिखो। जीवन ही मानों अंग्रेजी में दिया हुआ उद्धरण है जिसे कथाकार 'अपने शब्दों में लिखता है।' परन्तु 'उद्धरण' तो कहीं से उठाकर दिया जा सकता है, इसके लिये ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि उद्धरण किसी एक ही प्रकार की पुस्तक से लिया जाय। यहीं पर आकर पुराने कथाकार और मनोवैज्ञानिक कथाकार में अन्तर

[illegible]

यह अपना सामग्री जीवन की आन्तरिक गहराई से चयन करता है—वह गहराई जहाँ पर सारी चीजें अस्तव्यस्त रहती हैं। उनमें कोई संगठन या स्वरूप की दृढ़ता नहीं होती। स्वरूप की दृढ़ता नहीं होती यह मैंने अपनी ओर से कहा है। यूं तो उनमें भी एक संगति और संगठन होता ही है। परन्तु वह इस रूप में होता है कि उसको सबके लिये देख लेना सम्भव नहीं होता। अतः प्राचीन कथाकार, जैसे दास्तावेस्की और बैलजक, जब यह कहते थे कि उपन्यासकार का कर्तव्य यह है कि कथाकार पात्रों के विचारों को ठीक तरह से समझे बूझे और उन्हें हजम करे और तब उनकी सम्वेदनाओं को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करे तब उनसे किसी को मतभेद नहीं

था। कोई इस बात से असहमत नहीं हो सकता कि किसी भी कथाकार का यही कर्तव्य है। परन्तु ये कथाकार यह नहीं समझते थे कि यह सिद्धान्त जिस तरह बाह्य जगत और वहां के क्रियाकलापों के लिये लागू होता है उसी तरह यह मनुष्य की आन्तरिक चेतना के चित्रण के लिये भी लागू हो सकता है वे, यह नहीं समझ पाते थे कि जिस तरह बैलजेक अपने वर्णन कौशल के द्वारा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दे सकता है कि पाठक के मन में यह धारणा बंध जाय कि वह Masion Vaupuer में बैठा है मानों वह उसके सामने साकार रुप में उपस्थित है उसी तरह कथाकार की कुशलता और उसकी सामग्री का चयन यह भी दृश्य उपस्थित कर सकता है कि पाठक स्वयं पात्रों के मानसिक जगत में उपस्थित हो जाय, वहां के सारे दृश्य अपने सारी तरलता और उबड़खाबड़ता के साथ उपस्थित हो जाय। सारा मानसिक और आन्तरिक जीवन पाठक के लिये जीवित रूप धारण करले।

एक बात और है जिसे हमारे पूर्व के कथाकार नहीं समझ पा रहे थे। कल्पना कीजिये कि उन्हें किसी चीज का वर्णन करना है। उदाहरणार्थ किसी भवन का। उनके सामने एक यही उपाय था कि वहां की स्थिति में जितनी भौतिक पदार्थ है, केबिल, कुर्सी, मेज इत्यादि का अधिक से अधिक वर्णन किया जाय। वे समझते थे कि इन वस्तुओं के वर्णन से ही उस भवन की वास्तविकता को समझने में पाठक को सहायता मिलेगी। जेम्स ज्वायस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक यूलिसिस में डिडालस नामक पात्र के घर एक बड़े दिन के प्रीतिभोज समारोह (christmas dinner) का वर्णन किया है। वलजक जैसे वस्तुवादी कथाकार के हाथों में यह घटना होती तो वे वहां पर वस्तुओं का अम्बार खड़ा कर देते, वहां की एक एक उपस्कर सामग्री (furniture) का वे वर्णन करते, खाद्य-पदार्थों का एक एक नाम गिनाते, निमंत्रित व्यक्तियों की वेश-भूषा का, उनकी आकृति का, उनकी भावभंगियों का, उनके उठते बैठते बैठने के ढंग का विस्तृत ब्योरा उपस्थित करते। परन्तु ज्वायस ऐसा न कर उस दृश्य के चित्रण का सारा भार एक बालक तथा कुछ वृद्ध व्यक्तियों के मत्थे डालकर स्वयं अलग हो गये हैं। हम इस प्रीतिभोज के वाह्य भौतिक रूप को नहीं देखते। अब हम देखते हैं उस प्रवाह को, उस उफान को जो उनके चलते कुछ व्यक्तियों के मानस में उपस्थित होता है। आपने देखा होगा किसी पानी के ग्लास में क्रशन सालट की थोडी सी बुकनी को डालते ही किस तरह की आंधी उठ खडी होती है, प्रबुदबुदन

और संवेदनाओं की अवर्गीकृत आढ्यता (Unassorted abundance) को उपस्थित कर दिया है, कागज पर कलेजा (यहां मानस प्रवाह) को निकाल कर रख दिया है। पर ध्यान से देखने से पता चलेगा कि युलिसिस की रचना में पर्याप्त सतर्कता, संगठन एवं निर्वाचन से काम लिया गया है। बात इतनी सी है कि यहां पर सारी प्रक्रिया का उद्देश्य यह है कि पाठक के हृदय में यह आभासित हो कि यहां निर्वाचन से काम नहीं लिया गया है, सब चीजें ज्यों की त्यों उठाकर रख दी गई हैं। पूर्व के उपन्यासों का उद्देश्य वर्ण्य विषय के प्रति पाठकों के हृदय में Willing suspension of disbelief की स्थिति उत्पन्न कर देना था, ऐसी व्यवस्था कर देना था कि पाठक के हृदय में अविश्वास के प्रस्ताव न उठ सकें। आज का मनोवैज्ञानिक कथाकार भी यही कर रहा है। इतना ही अन्तर है कि प्रथम का ध्येय स्थूल या बाहरी जगत के प्रति अविश्वास नहीं उठने देने का था, आज के कथाकार का उद्देश्य चेतना प्रवाह के प्रति नहीं उठने देने का है।

कथा के मौलिक सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं। जब मैं विद्यार्थी था तो प्रश्न-पत्र में किसी अंग्रेजी का उद्धरण देकर कहा जाता था कि Write in your one words अर्थात् इसे पुनः अपने शब्दों में लिखो। जीवन ही मानों अंग्रेजी में दिया हुआ उद्धरण है जिसे कथाकार 'अपने शब्दों में लिखता है।' परन्तु 'उद्धरण' तो कहीं से उठाकर दिया जा सकता है, इसके लिये ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि उद्धरण किसी एक ही प्रकार की पुस्तक से लिया जाय। यहीं पर आकर पुराने कथाकार और मनोवैज्ञानिक कथाकार में अन्तर [illegible]

[illegible]

वह अपनी सामग्री जीवन की आन्तरिक गहराई में चयन करता है—वह गहराई जहां पर सारी चीजें अस्तव्यस्त रहती हैं। उनमें कोई संगठन या स्वरूप की [illegible] अपनी ओर से कहा [illegible] परन्तु वह इस रूप [illegible] नहीं होता। अत प्राचीन कथाकार, जैसे दास्तायेव्स्की और बैलजक, जब यह कहते थे कि उपन्यासकार का कर्तव्य यह है कि कथाकार पात्रों के विचारों को ठीक तरह से समझे बूझे और उन्हें हजम करे और तब उनकी सम्वेदनाओं को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करे तब उनसे किसी को मतभेद नहीं

था। कोई इस बात से असहमत नहीं हो सकता कि किसी भी कथाकार का यही कर्तव्य है। परन्तु ये कथाकार यह नहीं समझते थे कि यह सिद्धान्त जिस तरह वाह्य जगत और वहां के क्रियाकलापों के लिये लागू होता है उसी तरह यह मनुष्य की आन्तरिक चेतना के चित्रण के लिये भी लागू हो सकता है वे, यह नहीं समझ पाते थे कि जिस तरह वैलजेक अपने वर्णन कौशल के द्वारा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दे सकता है कि पाठक के मन में यह धारणा बंध जाय कि वह Masion Vaupuer में बैठा है मानों वह उसके सामने साकार रुप में उपस्थित है उसी तरह कथाकार की कुशलता और उसकी सामग्री का चयन यह भी दृश्य उपस्थित कर सकता है कि पाठक स्वयं पात्रों के मानसिक जगत में उपस्थित हो जाय, वहां के सारे दृश्य अपने सारी तरलता और उबड़खाबड़ता के साथ उपस्थित हो जाय। सारा मानसिक और आन्तरिक जीवन पाठक के लिये जीवित रूप धारण करले।

एक वात और है जिसे हमारे पूर्व के कथाकार नहीं समझ पा रहे थे। कल्पना कीजिये कि उन्हें किसी चीज का वर्णन करना है। उदाहरणार्थ किसी भवन का। उनके सामने एक यही उपाय था कि वहां की स्थिति में जितनी भौतिक पदार्थ है, केविल, कुर्सी, मेज इत्यादि का अधिक से अधिक वर्णन किया जाय। वे समझते थे कि इन वस्तुओं के वर्णन से ही उस भवन की वास्तविकता को समझने में पाठक को सहायता मिलेगी। जेम्स ज्वायस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक यूलिसिस में डिडालस नामक पात्र के घर एक वड़े दिन के प्रीतिभोज समारोह (christmas dinner) का वर्णन किया है। वलजक जैसे वस्तुवादी कथाकार के हाथों में यह घटना होती तो वे वहां पर वस्तुओं का अम्बार खड़ा कर देते, वहां की एक एक उपस्कर सामग्री (furniture) का वे वर्णन करते, खाद्य-पदार्थों का एक एक नाम गिनाते, निमंत्रित व्यक्तियों की वेश-भूषा का, उनकी आकृति का, उनकी भावभंगियों का, उनके उठते वैठते वैठने के ढंग का विस्तृत व्योरा उपस्थित करते। परन्तु ज्वायस ऐसा न कर उस दृश्य के चित्रण का सारा भार एक वालक तथा कुछ वृद्ध व्यक्तियों के मत्थे डालकर स्वयं अलग हो गये हैं। हम उस प्रीतिभोज के वाह्य भौतिक रूप को नहीं देखते। अव हम देखते हैं उस प्रवाह को, उस उफान को जो उनके चलते कुछ व्यक्तियों के मानस में उपस्थित होता है। आपने देखा होगा किसी पानी के ग्लास में क्रशन साल्ट की थोडी सी बुकनी को डालते ही किस तरह की आंधी उठ खडी होती है, प्रबुदबुदन

साहित्य के लिए कल्पना तथा इतिहास (सत्य) का महत्व

साधारणतः लोगों की यह धारणा है जीवन को यथातथ्यता को उप-
जीव्य मान कर तथा उसका अधिकाधिक अनुकरण कर चलने वाली रचनायें
ही उत्कृष्ट साहित्य की श्रेणी में आ सकती हैं। जब से यथार्थवाद का प्रचार
हुआ है और वैज्ञानिक दृष्टि लोगों में जगी है तब से इस प्रवृत्ति को और
भी प्रोत्साहन मिला है। किसी साहित्यिक रचना की मूल प्रेरणा का पता पा
लेना सहज नहीं है कारण कि उसकी सिद्धि के लिए कितनी ही चेतन या
अचेतन प्रवृत्तियां सक्रिय रहती हैं। पर जब उपन्यास कला ने इतिहास की
ओर पैर बढ़ाया होगा उस समय यथार्थवादी दृष्टिकोण से ही सचेत मिला
होगा और उसी ने उपन्यास को इतिहास के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिये
प्रोत्साहित किया होगा। दन्तकथाओं ने बहुत काल तक लोगों के हृदय में
स्फूर्ति का संचार किया होगा, तत्पश्चात् रोमांस को यह कार्य भार सौंपा गया
होगा। बाद में इनसे काम न चलता देखकर साहित्य ने यथार्थवाद को अप-
नाया होगा। इस प्रवृत्ति का प्रतिफलन हम डीफो, फिलडिंग इत्यादि की रच-
नाओं में पाते हैं। यद्यपि डीफो और फिलडिंग की रचनाओं में हम यथार्थवाद
का प्रवेश अवश्य पाते हैं पर फिर भी Don Quixote या Tom Jones की
साहसिकता और Adventures रोमांस के इर्द गिर्द ही घूमते दिखलाई पड़ते
हैं। ऐसा लगता है कि यथार्थवादिता को इससे पूरा सन्तोष नहीं हुआ होगा और
उसने इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए की प्रतिभा को ऐतिहासिक उपन्यासों
की रचना की ओर प्रवृत्त किया होगा। Scott के ऐतिहासिक उपन्यासों में
रोमांटिक तत्व न हों, सो बात नहीं। प्रचुर मात्रा में उनका उपन्यास रोमांटिक
तत्वों से भरा पूरा है। पर इतिहास का आश्रय ले लेने से उसकी तीक्ष्णता और
दर हो जाती है, डक बहुत कुछ दूर हो जाता है। अन्ततोगत्वा

साहित्य का उद्देश्य पाठकों के हृदय में एक सुखद भ्रम का संचार करना है न। एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करना जिसमें पाठक की विरोधी मनोवृत्ति शांत हो जाय, लेखक की प्रति उसमें विश्वास भावना जगे और वह देय को ग्रहण करने की मनोवृत्ति धारण करले। ऐसे मौके पर इतिहास ने आकर बड़ा काम किया और इस विरोधी मनोवृत्ति को शांत किया। यह विरोधी मनोवृत्ति वाली बात और भी स्पष्ट होकर हमारे सामने आती है जब हम देखते हैं कि उपन्यासों के प्रति लोगों में अच्छी धारणा न थी और उपन्यासों के पढ़ने को हेय दृष्टि से देखा जाता था। स्काट की उपन्यास कला ने इतिहास के सहारा पाकर यथार्थवाद की बढ़ती प्रवृत्ति को गंभीरतर संतोष प्रदान किया, साथ ही समाज के सभ्य तथा शिष्ट वर्ग के लिए आदर का पात्र बनाया।

यहां पर एक और प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। साहित्य के लिये इतिहास तथा कल्पना इन दोनों में किसका आपेक्षिक महत्व अधिक है? यों तो कवि की प्रतिभा किसी भी वस्तु को छू कर पारस बना दे सकती है पर प्रश्न यह है कि अपने विशुद्ध रूप में उपन्यास कला को श्रेष्ठ बनाने वाली कौनसी वस्तु होगी? क्या ऐतिहासिक कथावस्तु में साहित्य को उदात्त बनाने की अधिक मौलिक योग्यता होती है और कल्पित कथा-वस्तु में अपेक्षाकृत कम? क्या भूत-प्रेत, परियों दानवों, तथा देवताओं की कथा कहने से उपन्यास कला अपने लिए एक अतिरिक्त बला मोल लेती है और अकबर, शिवाजी, रिचार्ड और क्रामवेल को साथ लेकर अपने मार्ग को प्रशस्त कर लेती है?

किसी वस्तु पर विचार करने के दो तरीके हो सकते हैं। १–प्रथमतः, तो यह कि हम उसके मूल से प्रारम्भ करें और उसकी प्रगति के प्रत्येक चरण के साथ चरण मिला कर यात्रा करते हुए उसके विकास क्रम का निरीक्षण करें। बीज को बोइये और अंकुर को अपनी स्वाभाविक परिणति की सीमा तक निरीक्षण करते जाइये। २–द्वितीयतः, आप परिणति से ही आरंभ कर मूल तक पहुंचने का प्रयत्न कीजिये। वृक्ष को देखिये और प्रतिलोम गति से यात्रा करते हुए बीज तक पहुँचने का प्रयत्न कीजिये। यदि प्रथम पद्धति को अपनाई जा सके तो वह कुछ सुविधाजनक हो सकती है। पर यह समय साध्य है और वह बहुत कुछ आत्मनिष्ठ प्रक्रिया है। इस पद्धति से विचार करने में केवल स्रष्टा ही समर्थ हो सकता है अथवा उसके साथ रहने वाला अंतरंग मित्र। श्री कृष्ण के उद्धव की तरह। कहा जाता है कि उद्धव श्रीकृष्ण

साहित्य के लिए कल्पना तथा इतिहास (सत्य) का महत्व

साधारणतः लोगों की यह धारणा है जीवन की यथातथ्यता को उपजीव्य मान कर तथा उसका अधिकाधिक अनुकरण कर चलने वाली रचनायें ही उत्कृष्ट साहित्य की श्रेणी में आ सकती हैं। जब से यथार्थवाद का प्रचार हुआ है और वैज्ञानिक दृष्टि लोगों में जगी है तब से इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिला है। किसी साहित्यिक रचना की मूल प्रेरणा का पता पा लेना सहज नहीं है कारण कि उसकी सिद्धि के लिए कितनी ही चेतन या अचेतन प्रवृत्तियां सक्रिय रहती हैं। पर जब उपन्यास कला ने इतिहास की ओर पैर बढ़ाया होगा उस समय यथार्थवादी दृष्टिकोण से ही संकेत मिला होगा और उसी ने उपन्यास को इतिहास के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिये प्रोत्साहित किया होगा। दंतकथाओं ने बहुत काल तक लोगों के हृदय में स्फूर्ति का संचार किया होगा, तत्पश्चात् रोमांस को यह कार्य भार सौंपा गया होगा। बाद में इनसे काम न चलता देखकर साहित्य ने यथार्थवाद को अपनाया होगा। इस प्रवृत्ति का प्रतिफलन हम डीफो, फिल्डिंग इत्यादि की रचनाओं में पाते हैं। यद्यपि डीफो और फिल्डिंग की रचनाओं में हम यथार्थवाद का प्रवेश अवश्य पाते हैं पर फिर भी Don Quixote तथा Tom Jones की साहसिकता और Adventures रोमांस के इर्द गिर्द ही घूमते दिखलाई पड़ते हैं। ऐसा लगता है कि यथार्थवादिता को इससे पूरा संतोष नहीं हुआ होगा और उसने इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए की प्रतिभा को ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की ओर प्रवृत्त किया होगा। Scott के ऐतिहासिक उपन्यासों में रोमांटिक तत्व न हों, सो बात नहीं। प्रचुर मात्रा में उनका उपन्यास रोमांटिक तत्वों से भरा पूरा है। पर इतिहास का आश्रय ले लेने से उसकी तीक्ष्णता और उग्रता बहुत कुछ दूर हो जाती है, डंक बहुत कुछ दूर हो जाता है। अन्ततोगत्वा

साहित्य का उद्देश्य पाठकों के हृदय में एक सुखद भ्रम का संचार करना है न। एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करना जिसमें पाठक की विरोधी मनोवृत्ति शांत हो जाय, लेखक की प्रति उसमें विश्वास भावना जगे और वह देय को ग्रहण करने की मनोवृत्ति धारण करले। ऐसे मौके पर इतिहास ने आकर बड़ा काम किया और इस विरोधी मनोवृत्ति को शांत किया। यह विरोधी मनोवृत्ति वाली बात और भी स्पष्ट होकर हमारे सामने आती है जब हम देखते हैं कि उपन्यासों के प्रति लोगों में अच्छी धारणा न थी और उपन्यासों के पढ़ने को हेय दृष्टि से देखा जाता था। स्काट की उपन्यास कला ने इतिहास के सहारा पाकर यथार्थवाद की बढ़ती प्रवृत्ति को गंभीरतर संतोष प्रदान किया, साथ ही समाज के सभ्य तथा शिष्ट वर्ग के लिए आदर का पात्र बनाया।

यहां पर एक और प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। साहित्य के लिये इतिहास तथा कल्पना इन दोनों में किसका आपेक्षिक महत्व अधिक है ? यों तो कवि की प्रतिभा किसी भी वस्तु को छू कर पारस बना दे सकती है पर प्रश्न यह है कि अपने विशुद्ध रूप में उपन्यास कला को श्रेष्ठ बनाने वाली कौनसी वस्तु होगी ? क्या ऐतिहासिक कथावस्तु में साहित्य को उदात्त बनाने की अधिक मौलिक योग्यता होती है और कल्पित कथा-वस्तु में अपेक्षाकृत कम ? क्या भूत-प्रेत, परियों दानवों, तथा देवताओं की कथा कहने से उपन्यास कला अपने लिए एक अतिरिक्त बला मोल लेती है और अकबर, शिवाजी, रिचार्ड और क्रामवेल को साथ लेकर अपने मार्ग को प्रशस्त कर लेती है ?

किसी वस्तु पर विचार करने के दो तरीके हो सकते हैं। १—प्रथमतः तो यह कि हम उसके मूल से आरम्भ करें और उसकी प्रगति के प्रत्येक चरण के साथ चरण मिला कर यात्रा करते हुए उसके विकास क्रम का निरीक्षण करें। बीज को बोइये और अंकुर को अपनी स्वाभाविक परिणति की सीमा तक निरीक्षण करते जाइये। २—द्वितीयतः, आप परिणति से ही आरंभ कर मूल तक पहुंचने का प्रयत्न कीजिये। वृक्ष को देखिये और प्रतिलोम गति से यात्रा करते हुए बीज तक पहुँचने का प्रयत्न कीजिये। यदि प्रथम पद्धति को अपनाई जा सके तो वह कुछ सुविधाजनक हो सकती है। पर यह समय साध्य है और वह बहुत कुछ आत्मनिष्ठ प्रक्रिया है। इस पद्धति से विचार करने में केवल स्रष्टा ही समर्थ हो सकता है अथवा उसके साथ रहने वाला अंतरंग मित्र। श्री कृष्ण के उद्धव की तरह। कहा जाता है कि उद्धव श्रीकृष्ण

के सब कुछ थे, महाशिष्य, महाभृत्य, महामात्य ये कभी भी भगवान का साथ नहीं छोड़ते थे यहा तक कि अंत पुर के रगरहस्यो के भी वे साक्षी थे। यदि स्रष्टा का कोई ऐसा असंग सखा मिले तभी हमें बीज से लेकर चरम परिणति के इतिहास की झाकी मिल सके। पर यह दुर्लभ है। साहित्यिक वस्तु की परिणति ही हमारे सामने रहती है, हम उसके सिद्ध रूप को ही देख सकते हैं, साध्यमान को नहीं। अत दूसरी ही पद्धति से ही अधिक काम लेना पड़ता है। एक रचना हमारे सामने अपने पूर्ण विकसित रूप मे हमारे सामने है। हम उसकी एक एक परत उधेड कर देखते है, अपनी बुद्धि से भी काम लेते हैं, दूसरों से भी सहायता लेते हैं, यहा तक स्रष्टा से भी कुछ प्रकाश पा ले सकते हैं। इस तरह एक सिद्ध साहित्यिक वस्तु को हम हाथ में लेते हैं तो क्या हाथ लगता है ?

पहली बात तो यह है कि यह भाषा के माध्यम से किसी वस्तु की अभिव्यक्ति है—अभिव्यक्ति शब्द जरा भारी सा जान पडे तो कहिये कि वर्णन है। अच्छा, अभिव्यक्ति या वर्णन सदा सक्रिय होते हैं, निर्माणात्मक होते हैं। अभिव्यक्ति कभी भी निष्क्रिय नहीं होती। हम अभिव्यक्तमान वस्तु को ज्यों की त्यों उपस्थित नहीं कर सकते। वस्तु और अभिव्यक्ति के बीच में व्यक्ति आ जाता है। जिस अतीत में मनुष्य भाषा का आविष्कार नहीं कर सका होगा और मूक की तरह सकेतो के द्वारा ही अभिव्यक्ति करता होगा उस समय भी अभिव्यक्ति सत्य स्थापन मे समर्थ नहीं होती होगी। अभिव्यक्ति के लिए वस्तु मे कुछ जोड-तोड या काट छाट करनी होगी ही। भाषा के आविष्कार ने इस पार्थक्य या दूरी को एक पग और बढाया होगा। भाषा ने साहित्य का रूप धारण किया तो इस पार्थक्य मे और भी अभिवृद्धि हुई और साहित्य जब नाटक, उपन्यास इत्यादि बना तब तक वह मूल वस्तु से एक दम दूर जा पडा था। अत साहित्य पर, यहा उपन्यास, पर विचार करते समय उसमें कितना अश कल्पना का है और कितना अश यथार्थका इस प्रश्न को छेड़ना ही छाया के साथ लडैती करने तथा अपने ही कधों पर चढ़ने के प्रयत्न के समान व्यर्थ है। साहित्य एक ऐसा रासायनिक-मिश्रण है कि इसके निर्माण के ततुओं को पृथक कर देखना असभव है। साहित्य के केन्द्र में व्यक्ति प्रतिष्ठित रहता है, साहित्य के माध्यम से मानव अपने को अनेक परिस्थितियों में रख कर देखना पहचानना चाहता है। अत देखना यही है कि उपन्यास या साहित्य के द्वारा मानवीय सबधों की कहा

तक अभिव्यक्ति हो सकी है। अतः उपन्यास के पात्र कैसे भी हों दिव्य, अदिव्य या दिव्यादिव्य इसकी परवाह नहीं; पात्र के रूप में जड़ या चेतन किसी को उपस्थित किया जा सकता है, आकाश और पाताल को एक कर देने वाली घटनाओं का भी समावेश हो सकता है पर सब के केन्द्र में मानव की प्रतिष्ठा होनी चाहिये। वे मानवीय संबंधों, मूल्यों और महत्वों के प्रकटीकरण में कितने समथ हैं हमारे लिये इतनी सी ही बात महत्वपूर्ण है। यदि एक पत्थल के ठीकडे की आत्मकथा हमें मानवीय रहस्यों, सम्बंधों, मूल्यों को समझने में सहायक है, यदि वह हमें विश्व के साथ पारस्परिक सूत्रों को गप्रतिशील रूप में आबद्ध दिखला कर अपने को पहचानने की शक्ति देता है, हमें मानव की destiny की झांकी लेने की सामर्थ्य पैदा करता है तो वह उच्च कोटि का साहित्य है। यदि अशोक या शिवाजी वा महात्मा गांधी को लेकर सृजित रचना भी हमें अंदर से उभारती नहीं, कुछ आत्म निरीक्षण की प्रेरणा नहीं देती, केवल थोड़ीं बहुत उल्टी सीधी कथा भर दे रह कर रह जाती है, हमारे हृदय में सपने नहीं भर देती तो वर्णन भले हो (और अपने स्थान पर महत्वपूर्ण भी हो) पर श्रेष्ठ साहित्य के पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती। साहित्य का काम बोध भर ही देना नहीं है (वह तो वह देता ही है) पर आगे बढ़ कर आत्मप्रकाश भी देना है। एक ऐसा प्रकाश जो दिन की खुली रोशनी में नहीं मिल सकता--रात्री में एक टार्च की सहायता से देखने से प्राप्त होता है। दिन के खुले प्रकाश में प्रकाश पा लेना भी अपने में कम महत्वपूर्ण नहीं है पर जब अंधकार के गढ को चीर कर एक पतली किरण प्रवेश करने लगती है और क्रमशः वहां के रहस्यों का उद्घाटन होने लगता है तो मानव हृदय एक अपूर्व आन्दोल्लासानुभूति से भर जाता है। विशुद्ध प्रकाश और अंधकार को पराजित करना हुआ प्रकाश दो चीजें हैं। एक में निष्क्रियता है, दूसरा सक्रिय है, एक स्थितिशील है, दूसरा प्रगतिशील। अतः साहित्य में गतिशील प्रकाश ही महत्वपूर्ण होता है। यदि अंधकार न हो तो भी कृत्रिमरूप से अंधकार की सृष्टि करना, प्रकाश को उस पर हावी होता हुआ दिखलाने का प्रयत्न करना पड़ता है। वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में इस तरह के कृतिम अंधकार की सृष्टि करने की व्यवस्था की जाती है। तब साहित्य की प्रयोगशाला में इस तरह के प्रयोग की व्यवस्था क्यों न हो ? इतिहास दिन का नैसैर्गिक प्रकाश है और कल्पना रात्रि का अंधकार। ऐतिहासिक उपन्यास दिन के खुले प्रकाश में अपना व्यापार

करते हैं, वहा प्रकाश का इतना आधिक्य रहता है कि कोई चीज ठीक से नहीं देखी जा सकती, प्रकाश इस तरह अपनी सत्ता बनाये रख कर छाया रहता है कि वह ही आवरण बन जाता है। अत: कला, नेत्रोन्मेषिणी कला, इतिहास के कुछ अश को आवृत कर रखने वाले प्रकाश के प्रागण से हटा कर कल्पना की कोठरी मे ले जाती है और वहा उसे एक टार्च के सहारे देखने दिखलाने का उपक्रम करती है। उपन्यास अधकार रूपी गजकुभ को विदारण करते हुए सिंह की दीप्ति है और ऐतिहासिक उपन्यास सिंह के द्वारा विदारित होती हुई गजकुभ की श्यामलता जिसके गर्भ से शत शत मुक्तायें बिखर बिखर पडती है। हम रूपक की भाषा मे बोल रहे हैं। अत इससे दीख पडने वाली असगति को अपनी सहज बुद्धि से दूर कर वास्तविकता को पहचान लेनी चाहिये।

प्रथम पद्धति से विचार करने मे अर्थात् बीज से आगे बढ कर अकुर तथा वृक्ष बनने के सातत्य को देखने में आलोचना को उतनी सुविधा नहीं होती। यह काम स्रष्टा का है। पर आलोचक स्रष्टा के सहारे यहा भी कुछ तथ्य का पता लगा सकता है। बहुत से कथाकारों ने अपनी कहानी की 'कहानी' कही है और बतलाया है कि मूल रूप मे प्राप्त हुआ एक छोटा सा बीज किस २ तरह कहा कहा से रस ग्रहण करता हुआ, किन २ बाधाओं को झेलता हुआ अपनी परिणति को पहुँचा है। हिन्दी में इस तरह का प्रयत्न नहीं हुआ है। प्रेमचन्द ने सिर्फ इतना ही एक स्थान पर कहा है कि रंगभूमि का प्लाट एक अन्धे भिखारी को देखकर ही उनके मस्तिष्क मे आया था। पर उन्होंने आगे बढकर उस छोटे से बीज को रगभूमि के रूप मे परिणत करने वाली शक्तियों का स्वरूप निश्चित नहीं किया है। इस दृष्टि से अंग्रेजी के प्रसिद्ध औपन्यासिक हेनरी जेम्स के Prefaces बडे ही महत्वपूर्ण है जिनमें उन्होंने कहीं से आ पडने वाली छोटी से चिनगारी को एक तेजपुज बृहज्ज्वाल के रूप में परिणत करने वाली सारी शक्तियों का विश्लेषण किया है। यहा पर उनके एक Prefaces के आधार पर बतलाने की चेष्टा कर रहा हूँ कि एक छोटी सी सास को कथाजाल बना देने के लिए प्रतिभा कहा-कहा से उपकरण एकत्र करती है। इससे यह भी समझने मे सहायता मिलेगी कि साहित्यिक या कलात्मक सृष्टि में इतिहास (सत्य) और कल्पना का स्वरूप कैसा होता है।

हेनरी जैम्स का एक प्रसिद्ध उपन्यास है The Spoils of Poynton उसकी भूमिका में उसने लिखा है कि, वर्षों पहले, एकबार वह किसी प्रीतिभोज में सम्मिलित होने के लिए गया। वहां पर अपने मित्रों के साथ तरह-तरह के वार्तालाप के प्रवाह में निमग्न था कि न जाने कहां से बहता एक तृण आ गया। वह था तो छोटा ही पर वह इतना नुकीला प्रामाणित हुआ कि वह हृदय-रंध्र के उस स्तर तक पहुँच गया जहां से सृजन का प्रारंभ होता है। वार्तालाप के प्रसंग में एक मित्र ने उत्तर की तरफ रहने वाली एक महिला की चर्चा छेड़ दी। वह महिला सभ्य, शिष्ट और भद्र थी। उसका एक इकलौता पुत्र था जिसे वह बहुत प्यार करती थी। पुत्र भी ऐसा वैसा नहीं। हर तरह से आदर्श। पिता की मृत्यु निकट जान पड़ती थी। पिता के पास कुछ बहुमूल्य फर्नीचर थे। उनके उत्तराधिकार को लेकर माता और पुत्र में विरोध की मात्रा इतनी बढ़ गई कि आज वे एक दूसरे के जानी दुश्मन हो रहे हैं। बात इतनी ही सी थी। इसमें मुश्किल से दश शब्द रहे होंगे पर इतने से ही मानों बिजली की चमक की तरह उसका सारा मानसप्रदेश उद्भासित हो गया और उसमें उपन्यास की पूरी रूप रेखा की अवस्थिति दृष्टिगोचर होने लगी। कल्पना कीजिये कि सुसज्जित तथा सब तरह की मनोहर सामग्रियों से पूर्ण स्वागत कक्ष है, बिजली के बटन के दबाते ही अपनी गौरववान महिमान्विता के साथ प्रगट हो गया हो। ऐसी ही स्थिति लेखक की हुई। यहां तक कि जब इस प्रसंग की और बातें कही जाने लगीं कि दोनों प्रतिद्वन्द्वियों में किस किस तरह की चोटें चलने लगीं, एक ने दूसरे को मात देने के लिए कौन सी गोटी उठाई, दोनों में अपनी अभीष्टसिद्धि के लिए कैसे-कैसे आघात प्रतिघात होते रहे तो उसने इन सबके प्रति अपने कान ही मूंद लिए। होना तो यह चाहिए था और आपाततः यह बात ठीक भी मालूम होती है कि लेखक विस्तार की इन बातों का स्वागत करता, ध्यान देकर सुनता और अपने कथा-निर्माण में इनसे सहायता लेता। पर वह इन्हें व्यर्थ तथा अपनी कला-वस्तु-निर्मिति में इन्हें बाधक समझता है। प्रकृति, सत्य मानो एक स्नेहमयी पगली मां हो जो अपने स्नेहातिरेकावेश में बच्चे को प्यार करते समय, पालने पर झुलाते समय प्यार के चुम्बनों और आलिंगन के भार से ही उसका दम घोंट दे। अतः उसे इस व्यापार से रोकना चाहिये। यही काम लेखक करता है। वह देखता है कि समय रहते, बच्चे की जान रहते या तो मां को इस घातक व्यापार से निवारित करना चाहिये, नहीं तो बच्चे को ही वहां से ले भागना

चाहिये। उत्पन्न तो करती है प्रकृति ही पर खा भी वही जाती है, नष्ट भी वही करती है प्रकृति की ध्वंस लीला इतनी उग्र होती है। कि उसका सृजनात्मक पहलू छिप जाता है और उसके रक्तरंजित पंजे ही (Nature red in tooth & claws) ही दिखाई पड़ते हैं। कलाकार का ही प्रताप है कि वह प्रकृति के बालक को उसकी प्राण घातिनी गोद में छीन कर या और किसी प्रकार से उसकी रक्षा की व्यवस्था करे। प्रकृति ने तो कितने ही राम को पैदा किया होगा और नष्ट कर दिया होगा। पर एक राम को कवि ने प्रकृति की गोद से हटा कर अपनी गोद मे लिया, आतिशय्य या अभाव दोनों दोषों से रहित उचित मात्रा में स्नेह सपोषण देकर परिवर्द्धित किया और उसी के प्रताप से वह राम आज भी जीवित है। विल्हण ने अपनी पुस्तक विक्रमाङ्कदेवचरित के प्रारंभ में दो दो श्लोक लिखे हैं और वे हमारे प्रसंग में इतने मौजूँ बैठते हैं कि उनको उद्धृत करने का लोभ संवरण न हो कर सकता।

(i) पृथ्वीपते सन्ति न यस्य पार्श्वे कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि
भूपा कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां जानाति नामापि न कोऽपि तेषाम्

(ii) लङ्कापते संकुचितं यशो यद् यत्कीर्त्तिपात्रं रघुराज पुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः ॥

अर्थात् जिस राजा के पास कवि नहीं भला उसे यश की प्राप्ति कहाँ? संसार में न जाने कितने राजाओं ने जन्म लिया परन्तु आज उनका कोई भी नाम लेता नहीं है। लंकापति रावण की कीर्ति आज इतनी मलिन पड़ी है और राम इतने यशस्वी हैं—यह सब आदि कवि वाल्मीकि का प्रभाव है। राजाओं को कभी भी कवियों को नाराज नहीं करना चाहिए।

जमीन की किसी तह में हड्डी की एक छोटी टुकड़ी पड़ी है, कुत्ते को उसकी गंध का पता चलता है और वह उसे ले आता है। उसी तरह की गंध साहित्यिक भी सूंघता है और वहाँ पहुँच जाता है। पर कुत्ते में और कलाकार में अन्तर है। कुत्ता हड्डी की टुकड़ी लेता है तो उसे दाँतों से चबा-चबा कर नष्ट कर देने के लिये पर कवि उसे उठा कर लाता है तो उसे स्थायित्व देने के लिए, उसे अमरत्व प्रदान के लिए। कुत्ते के स्थान पर हम प्रकृति को रख सकते हैं और कलाकार तो कलाकार है ही।

इस छोटे से संकेत पर हेनरी जेम्स ने अपने उपन्यास की भव्य अट्टालिका का निर्माण किया है। वह संकेत जो मुफ्त में मिली चीज है,

जिसे किसी ने दी नहीं है, जो मिल गई है भाग्य की तरह अपने minimum रूप में, जो जरा भी ज्यादा मिलती तो गर्भस्थ शिशु जीवन-ज्योति के दर्शन के पूर्व ही नष्ट हो जाता। बाहर से दूसरे लोगों द्वारा बताये गये संकेतों में स्थूलता होती है, आवश्यकता से अधिक बातें होती हैं, उनकी नोक इतनी मोटी होती है कि सृजन धार के प्रवाह के लिये रंध्र नहीं बहा सकती। ठोक पीठ कर वैद्यराज बनाने वाले बहुत से correspondence courses की बातें सुनने में आती हैं पर इन्होंने किसी कथाकार को उत्पन्न किया यह बात सुनने को नहीं मिली। हां, जान को खतरे में डालने वाले नीम हकीम पैदा किये हों यह बात दूसरी है। जिस तरह हवा में सदा तैरते रहने वाले कीटाणु बड़े कौशल से उसी शरीर में प्रवेश करते हैं जो उनके लिये ripe हैं और और वहां से अपनी कलात्मक वस्तु रोग का सृजन करते हैं उसी तरह कथा के संकेत कहां नहीं है, सारा विश्व ही बृहद्कथा है "जिसका दामन जरा निचुड़ा नहीं कि फ़िरिश्ते उसमें वजू कर धन्य धन्य होने लगते हैं।

हमारा उद्देश्य जेम्स की कला तथा The Spoils of Poynton का अध्ययन प्रस्तुत करना नहीं है। हम यहां इतना ही जानें कि इस छोटे से संकेत पर जिस कथा का निर्माण हुआ उसकी रूपरेखा यह है। Mrs. Gose Gereth के पुत्र Owen Gereth के विवाह की बात Mena से तय हो चुकी है। इसी अवसर Fleda Vetch नामक एक लड़की के हृदय में भी Owen के लिये प्रेम के अंकर उत्पन्न होते हैं। Fleda चतुर और प्रतिभावान् लड़की है और Mrs. Gereth इसे पसन्द भी करती हैं। पर भावी पुत्रवधू को नहीं चाहती और नहीं चाहती कि उसके बाहुमूल्य उपस्कर एक अवांछित व्यक्ति के हाथ लगे। अतः वह उन्हें हटाकर एक दूसरे स्थान पर रखवा देतीं है। इस पर Mona बहुत क्षुब्ध होती हैं और विवाह का प्रस्ताव तबतक के लिये स्थगित हो जाता है जबतक कि वे हटाई गइ बहुमूल्य सामग्रियां पुनः यथास्थान ला नहीं दी जातीं। इसी परिस्थिति में Fleda Mrs. Gereth से मिलने आती है। आने के पहले वह Owen से मिलती है और घटना के विकास क्रम से पर्णतया परिचित हो जाती है। Owen मना कर देता है कि वह उसकी मां से अपनी प्रेमिका की शर्त की चर्चा न करे कारण कि इस बात को सुन मां का हृदय और भी कहीं कडा न पड़ जाय और स्थिति में सुधार होने की रही सही आशा भी जाती रहे। वार्तालाप के प्रसङ्ग में Fleda के मन में यह भी धारणा बंधती है कि Owen के हृदय में उसके

लिये तरल भाव है और परिस्थितियों के अनुकूल होने पर प्रेम की आधार-वस्तु मे परिवर्तन हो सकता है अर्थात् Owen अपने पूर्वाग्रह का परित्याग कर Fleda से विवाह करने पर विचार करने के लिये तैयार हो जा सकता है। वह सोचती है कि यदि समस्या का समाधान एक ही है कि मा अपने मत पर कुछ देर और दृढ रहे तो Owen सामग्रियों के लौटाने के हठ को छोड देगा और Mona स्वयं मार्ग से हट जायेगी। ऐसी ही परिस्थिति में वह Mrs Gereth से मिलने आती है। यदि वह सीधी सादी, अपनी स्वार्थ-सिद्धि को प्रधान मानने वाली, अपनी प्रवृत्तियों को ही महत्व देने वाली नारी होती है तो सब कुछ सहज रूप मे सुलझ जाता। पर वह बडी सुरुचि सम्पन्न, नारी है वह सोचती है कि इस ढग से सब कुछ हल हो जाता है, पर Mona के प्रति जो Owen का एक कर्त्तव्य है, obligation है अथवा उन दोनों के प्रति उसका जो एक कर्त्तव्य उसका क्या हुआ ? क्या वह इतनी सस्ती चीज है कि उसे दुनियादारी के चलते सिक्के पर बेच दिया जाय। उसे सारे रहस्यों को भी छिपा रखना है। Mrs Gereth साधारण महिला नहीं है, चतुर, दुनिया देखी हुई, दूसरो के हृदय से बात निकाल लेने वाली। ये दोनों महिलायें अपने अस्त्र-शस्त्रों से लैस होकर आमने सामने आती हैं और इन दोनों मे जो चोटें चलती हैं, पैतरे बाजी होती है वही उपन्यास का प्राण है और यह उपन्यास जिस रूप मे हमारे सामने आया है उसे देखकर कौन कहेगा कि इसकी नींव केवल "दश शब्दों" पर है। इतने बडे अश्वत्थ वृक्ष को देखकर कोई यह कल्पना भी करता है कि यह कितने छोटे बीज से उत्पन्न हुआ है ? ऐसी अवस्था मे कहना कठिन है कि कला-वस्तु में कौन प्रधान है सत्य (इतिहास) या कल्पना "कथ' सिंग क्रमेलक।" हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि निर्मिति में कल्पना का देय कुछ अधिक है। काक प्रियतम के आगमन की सूचना भले ही दे और वह इसके लिये पूज्य भी है पर प्रियतम के साथ वास्तविक समागम तो उसे अपनी पीठ पर ढोकर लाने वाला ऊट ही कराता है न। ठीक उसी तरह उपन्यास के बीज की सूचना तो न जाने कितनों को मिली होगी पर बडभागी विरत ही होते हैं जिनकी कल्पनारूपी क्रमेलक की पीठ पर चढ़कर प्रियतम घर आता हो। अत कला वस्तु में सत्य का महत्व नहीं है। महत्व इस बात का है स्रष्टा ने कहा तक उसके द्वारा मानवीय सत्वों और मूल्यों को परस्परान्वित देखा है।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	४	कहा है	कहा है कि
७	२६	माज़ुम	मालूम
१५	१८	सी	ही
१८	२१	लम्ले	लम्बे
२०	१२	विश्वासनीय	विश्वसनीय
२१	१६	दर्शनिकता	दार्शनिकता
२२	२७	स्वछन्द	स्वच्छन्द
२५	१२	एंक्तियों	पंक्तियों
२६	२४	क्रोधामिभूति	क्रोधाभिभूत
३०	६	की	जी
३७	१	भी को	को भी
४१	२५	अवछिन्न	अविच्छिन्न
४१	२७	भूमिष्ट	भूयिष्ठ
५०	१५	Fudged	Judged
५१	६	आन्तिरिक	आन्तरिक
५४	२	उप्तन्न	उत्पन्न
५५	१५	अभिव्ययंजक	अभिव्यंजक
५५	३१	अत्म	आत्म
५७	२	भावमंगियों	भावभंगियों
५८	१४	प्रतिनिम्व	प्रतिविम्व
५६	११	व्यैयक्तिक	वैयक्तिक
५६	२०	उद्मसित	उद्भासित
६५	६	शान्तिभय	शान्तिप्रिय
७१	२	कुशालग्र	कुशाग्र
७६	२०	आनावश्यक	अनावश्यक
७८	१७	अन्तरतल	अन्तस्थल
८०	१	जय	जाय
८०	३	ड़िए	लिए
८१	३	स्मृद्धि	समृद्धि
८३	३	भावव्रत	भावगत
८७	२३	छुट	छूट

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८८	२१	दूसरों	दूसरों
९०	२५	गर्व-विदुदंग्ध	गर्व-दुर्विदग्ध
९५	२	ज्योत्सना	ज्योत्स्ना
९५	३	श्रोत	स्रोत
९७	६	बात का	बात का है कि
१००	६	पुरानी बोतल में नई शराब	नई बोतल में पुरानी शराब
१०१	३	आश्वत्थ	अश्वत्थ
११५	१२	ही	हो
११७	१२	प्रवृत्त	—
११९	१४	बड़ी	बड़ा
१२५	२०	है कि कोई	कि है कोई
१२७	१७	ती	ता
१२८	२	यह	इसने
१२८	१४ व १५	यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं यद्यदूर्जित मेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्	
१२९		महामहो-पाध्याय	महामहोपाध्याय स्व०पं० रामावतार
१३०	१६	ही सकता	हो सकता
१३०	२५	और वे बताय	और वे बतान
१३१	६	करने	करते
१४७	३०	मड़कप्लुति	मण्डूकप्लुति
१४९	१	नरना	करना
१४९	८	पाठकों से	—
१५२	६	उसके	—
१५२	१८	ही	दी
१५६	२	मोटे	छोटे
१६६	४	को	की
१६७	७	रहते	रहने
१६८	१२	न हों	नहीं